ओ३म्

सेवा-धर्म

वीतराग महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज
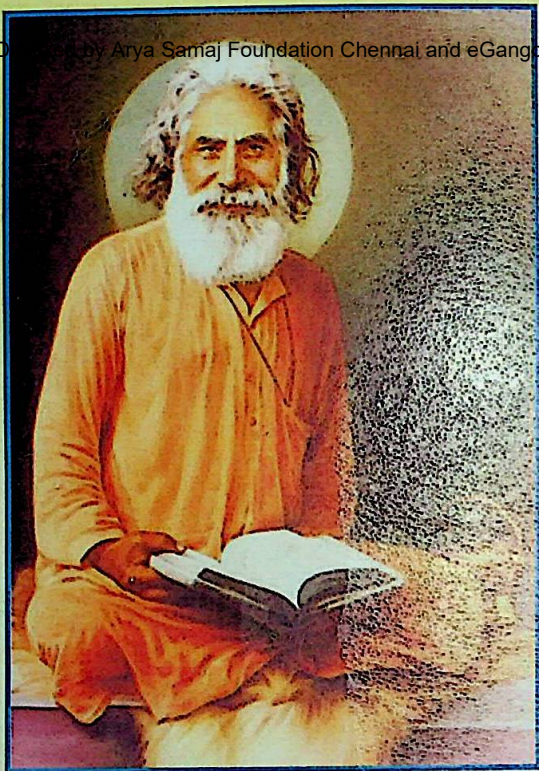
वीतराग महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज

जन्म १८८७—महाप्रस्थान १६ मार्च, १६६७

सरलता—सादगी के प्रतीक—सौम्य सन्त प्रभुआश्रित जी आज से लगभग एक सौ पन्द्रह वर्ष पूर्व जिन्होंने निर्धनता के आंचल में नेत्र खोले, तपस्या के आंगन में लोरी सुनी, तपती दुपहरी में पोथी पढ़ी, अनिकेत रह कर गृहस्थी संभाली, भूखे रहकर हरिभजन किया, मौन रहकर आराध्य को रिझाया, साधक बनकर योग को साधा, प्रचारक बनकर यज्ञ को विस्तारा, चिन्तन करके गायत्री को सराहा, पोथी पढ़—पढ़कर जीवन को बांचा, यश अपयश से परे रहकर नाम—धन अर्जित किया और अन्त में पंचतत्व की चदरिया को ज्यों की त्यों धरकर जीवन मुक्त हो गए।

।। ओ३म् ।।

सेवा धर्म

लेखक :
वीतराग महात्मा प्रभुआश्रित जी महाराज

प्रकाशक :
वैदिक भक्ति साधन आश्रम
आर्यनगर, रोहतक

दो शब्द

आधुनिक युग के यशस्वी सन्त महात्मा प्रभुआश्रित जी महाराज समस्त मानव जाति के लिए एक वरदान सिद्ध हुए हैं। पूज्य गुरुदेव परम त्यागी, तपस्वी, कर्मठ कर्मयोगी एवं वैदिक मिशनरी थे। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन वेद-यज्ञ-योग के प्रचार-प्रसार में लगा दिया। परमात्मा की कृपा से आपकी प्रेममयी सुमधुर वाणी को जिसने सुना उसका कायाकल्प हो गया।

महाराज जी की लेखनी अत्यन्त प्रभावशाली थी। जटिल से जटिल गूढ़ विषयों को सरल और रोचक भाषा में मनभावन और अनुप्रेरक रूप में प्रस्तुत करते हुए इसी पुस्तक में लिखा है—

"माता-पिता की सेवा से मनुष्य को सुन्दर सुडौल और बलवान् शरीर प्राप्त होता है और अगलें जन्म में ऐसे माता-पिता के घर उसे जन्म मिलता है, जो उसके शरीर को सुन्दर, सुडौल और बलवान् बना सकें। यह फल ऐसी गुप्त रीति से मिलते हैं, जैसे कि माता के गर्भ में बालक का शरीर बनता है। यह सब परमात्मा की कृपा और हमारे पूर्वकर्मों का ही फल होता है।"

१६-३-१९६७ को महाराज जी स्वर्ग सिधारे तथापि साधनावस्था उपरान्त उनकी अमर लेखनी से निकले हीरे-मोती शब्द वाक्य पुस्तक रूप में आध्यात्मिक जगत् में धर्मप्रेमी जनों का पथ प्रदर्शन कर रहे हैं। लगभग

६ दर्जन पुस्तकों के अनेकों संस्करण छप चुके हैं फिर भी माँग सदा बनी रहती है।

रंगीन कवर, अच्छा कागज और सुन्दर छपाई द्वारा पुस्तक को आकर्षक बनाने हेतु लघु प्रयास किया है, जिससे पुस्तक मूल्य में कुछ बढ़ोत्तरी हुई है फिर भी धर्मप्रचार की भावना से पुस्तक का मूल्य लागत मात्र ही रखा गया है, जिससे सर्वसाधारण जन भी लाभ उठा सकें।

महाराज जी के अन्तःस्थल से निकले भावों को पढ़कर सभी प्रेमीजन अभिभूत हो जाएं, की कामना के साथ पाठकों के हाथ में पुस्तक सौंपते हुए हर्ष हो रहा है।

—दर्शन कुमार अग्निहोत्री
प्रधान

२३ अक्टूबर, २००४ वैदिक भक्ति साधन आश्रम,
रोहतक
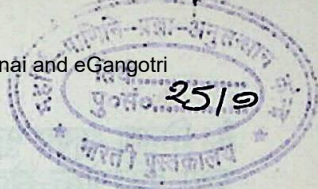
भूमिका

चराचर सृष्टि में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं, जो किसी न किसी प्रकार किसी दूसरे की सेवा न करता हो। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तारागण, अग्नि, जल, वायु, आकाश आदि प्रभु की महान् से महान् सृष्टि और शक्ति से लेकर तुच्छ से तुच्छ कीड़े मकोड़े और नन्हीं सी च्यूंटी तक सभी किसी न किसी प्रकार से दूसरों की सेवामें लगे हुए दिखाई देते हैं चाहे कोई उनका उपकार माने या न माने, वे किसी प्रकार भी अपने कर्तव्य की अवहेलना नहीं करते। साथ ही इसके सभी प्राणी अपनी–अपनी जगह पर दूसरों की सेवा से लाभ उठा कर आप भी उनकी सेवा करने योग्य बनते जाते हैं और यथाशक्ति उसमें किसी प्रकार से भी कोई त्रुटि नहीं होने देते। सारांश, संसार में हर जगह और हर ओर यही लेन–देन का क्रम दिखाई देता है और–इस हाथ दे, उस हाथ ले, के नियम पर प्रत्येक जीवन तथा निर्जीव पदार्थ काम करता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। उदाहरण रूप से यों समझिए कि सूर्य अपनी किरणों द्वारा पृथ्वी को गरमी देता है, पृथ्वी उसके बदले में अपनी सारी तरी अर्थात् जल का अंश जो उसमें है, उसको भेंट करती है। फिर सूर्य उसी जल को बादल का रूप देकर पृथ्वी पर अमृत धारा बरसा कर और उसे चारों ओर हरा–भरा करके निहाल कर देता है।

इसी प्रकार पृथ्वी, वृक्षों आदि तथा मनुष्यों और दूसरे जीवों से बीज अथवा खाद रूप में जो कुछ लेती है वह एक–एक के बदले सौ–सौ और हजार–हजार करके वापिस लौटा देती है और यदि विचारपूर्वक देखें तो संसार में सभी ओर और सभी स्थानों पर यह नियम इसी क्रम से काम करता हुआ दिखाई देता

है। सिवाय शायद मनुष्य–संसार के, जहां चहुं ओर कृतघ्नता का दृश्य दृष्टिगोचर होता है और कृतज्ञता का भाव बहुत ही कम पाया जाता है। यहां तक कि बहुत से अभागे मनुष्य तो उस परम पिता परमात्मा के सामने भी कृतज्ञता से सिर झुकाना आवश्यक नहीं समझते। जिसने अपनी अपार और अनन्त शक्तियों से यह सब संसार रचकर और उन्हें मनुष्य शरीर देकर आगामी उन्नति का ऐसा विस्तृत क्षेत्र उनके सामने खोल दिया है, कि वह जन्म जन्मान्तर में जितनी भी चाहें उन्नति करते चले जायें, जिसका कहीं अन्त ही नहीं और है भी तो केवल उसी अनन्त ब्रह्म में जिसे पाकर मुक्त आत्मा इतना परमानन्द को प्राप्त हो जाता है कि अपने अस्तित्व को भी सर्वथा भूल कर तद्रूप ही बन जाता है और मस्त हो कर यह पुकार उठता है कि :–'जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है!"

मनुष्य को इस कृतघ्नता के भाव को कम करने और उसके मन में कृतघ्नता का परम पवित्र भाव भरने के लिए ही वेदादि सत्य शास्त्रों ने सेवा धर्म को मनुष्य का (जो परमात्मा की सृष्टि में निसंदेह सब से श्रेष्ठ सृष्टि है) सबसे श्रेष्ठ धर्म कहा है और यह बतलाया है कि जो मनुष्य जिस हद तक अपने इस सर्वश्रेष्ठ धर्म केवल कर्त्तव्यभाव अर्थात् निष्कामवृत्ति से पूरा करता है उतना ही वह परम पिता परमात्मा की आज्ञा और इच्छा को पूरा करता हुआ अपनी श्रेष्ठता को प्रकट करता है और अपनी भावी उन्नति के क्षेत्र को विस्तृत करता हुआ अपने भविष्य को प्रकाशमय बनाता जाता है। कारण, दूसरी सभी योनियां तो भोग योनियां हैं और उनमें जो जीव फंसे हुए हैं, वे सबके सब ही कर्म करने और उनका फल भोगने में परतन्त्र हैं, और उनकी भावी उन्नति किसी प्रकार भी उनके अधीन नहीं। केवल एक

मनुष्य योनि ही ऐसी है, जिसमें जीव एक बहुत बड़ी सीमा तक कर्म करने में स्वतंत्र है और वह जितना भी अपनी स्वतंत्रता का सदुपयोग करता जाता है, अधिक से अधिक स्वतंत्रता मिलती जाती है। इसके विपरीत वह जितना अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करता है उतना ही वह अपनी रही–सही स्वतंत्रता को भी नष्ट करके अन्त में मनुष्य शरीर से भी हाथ धो बैठता और पशु–पक्षी या उनसे भी कष्टमय तथा परतन्त्र मूढ़योनियों में जा फंसता है।

अतएव मनुष्यमात्र को उचित है कि वह अपने कल्याण के लिए अपने इस वर्तमान मनुष्य शरीर से पूरा–पूरा लाभ उठायें और अपने इस सर्वश्रेष्ठ सेवा धर्म को यथाशक्ति निःस्वार्थ तथा निष्कामभाव से कर्तव्य रूप में पूरा करके मनुष्य से देवता बनकर नाना प्रकार के दिव्य सुखों की प्राप्ति करते हुए अन्त में जन्म–मरण के दुःख से छूट कर परमपिता की परमानन्दमयी गोद में स्थान पाए। क्योंकि वेदादि सत्य शास्त्रों ने इस जन्म–मरण को ही संसार के सब दुःखों से अधिक कष्टदायक माना है।

परन्तु यह सेवा धर्म भी देखने में सीधा–सादा और सुलभ ज्ञात होता है, वास्तव में वैसा नहीं। तभी तो नाना प्रकार की सेवा करने वाले अनेक सज्जन भी किसी न किसी अंश में अपनी वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट दिखाई देते हैं। इसलिए उनमें से बहुत साहस खोकर शीघ्र ही इस मार्ग को छोड़कर और भी अनेक प्रकार के दुःखों में फंस जाते हैं। विरले ही कोई ऐसे निकलते हैं जो अपने इस व्रत में पूरा–पूरा आनन्द पाकर अन्तकाल तक उसे निभाते हैं और अपने इस जन्म से पूरा–पूरा लाभ उठाकर अपने भविष्य को प्रकाशमय बनाने में सफल मनोरथ होते हैं।

उनकी इस असफलता के क्या–क्या कारण बन जाते हैं और ऐसा क्यों होता है? इन सब रहस्यों को ही ब्रह्मपारायण यज्ञ के दिनों में कुछ दिनों तक मैंने उपदेशों द्वारा प्रकट करने का प्रयत्न किया है। जिनका संग्रह इस पुस्तक में म. शान्तिनारायण जी प्रेमी पाठकों के सामने पेश कर रहे हैं। इस संग्रह में उन्होंने मेरे सभी भावों को जनता के सामने बड़ी सुन्दरता के साथ पेश किया है, यद्यपि जैसा कि उन्होंने स्वयं भी लिखा है कि यह पुस्तक लिखने में जिन शब्दों और जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह संभवतः कहीं–कहीं उनकी अपनी ही है, परन्तु उसमें जो भाव दिये हैं, वे मेरे ही भाव होने में मुझे किसी प्रकार से भी कोई सन्देह नहीं और न मेरे किसी प्रेमी को ही यह सन्देह होना चाहिए। केवल यही नहीं वरन् विचारों के भाव में जहां कहीं थोड़े से उनके अपने भाव भी आ गये हैं। वे भी हम दोनों की विचारधारा का रूप एक ही हो जाने के कारण मुझे अपने ही भाव ज्ञात होते हैं, अतः वे भी मेरे ही समझे जाने चाहिएं।

मुझे आशा है कि सभी प्रेमी सज्जन इस पुस्तक को यज्ञ प्रसाद के रूप में ग्रहण करके विचारपूर्वक इसका स्वाध्याय करेंगे और इससे पूरा–पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे तथा जो दूसरे विषयों पर यज्ञ में उपदेश हुए हैं, उनके जो संग्रह करके पीछे छपेंगे उनको भी प्राप्त करके उनसे लाभ उठायेंगे। प्रभु उन्हें अपने इस प्रयत्न में सफल होने का बल दे। यही मेरी हार्दिक प्रार्थना, अभिलाषा तथा इच्छा है।

विनीत :
टेकचन्द प्रभु आश्रित
भक्ति साधन आश्रम,
१७–११–३६ टोबा टेकसिंह (लायलपुर)

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।।

(यजु. ३६/३)

सेवा—धर्म

सेवा धर्म के सम्बन्ध में, पहले भी मैं संक्षिप्त रूप से कह चुका हूं। परन्तु आज मैं इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक कहना चाहता हूं। सेवा धर्म संसार में सबसे ऊंचा धर्म है, क्योंकि शरीर (तन) तो राज्य (हुकूमत) से खरीदा जा सकता है। बुद्धि भी धन से मोल ली जा सकती है, परन्तु मन केवल सेवा से ही वश में किया जा सकता है और किसी प्रकार नहीं। यह सेवा भाव बड़े ही पुण्य कर्मों से प्राप्त होता हैं बड़ों की सेवा करो तो आशीर्वाद पाओ, निर्धनों और निर्बलों की सेवा करो तो यश और कीर्ति मिले। परन्तु सेवा जहां सबसे ऊंचा धर्म है, वहां सबसे कठिन भी है। इस कठिनाई को पार करने के लिए तप और त्याग की आवश्यकता है। इसीलिए वेद भगवान कहते हैं :—ओ३म् स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजसव स्वयं जुषुस्व। महिमा तेऽन्येन न सन्नशे।

यजु. २३—१५।।

इसमें वेद भगवान् यह आज्ञा देते हैं :— हे मनुष्य! मैंने तुझे सब योनियों में श्रेष्ठतम बनाया है, कारण सब प्राणियों से एक चीज तुझे विशेष मिली है। खाते—पीते तो सभी जीव हैं, जिसके लिए उन्हें आहार, अन्न, जल आदि नाना प्रकार के भोज्य पदार्थ उनकी रुचि के अनुसार दिए गए हैं। काम

चेष्टा भी सब में समान रूप से है, जिससे उन का जोड़ा भी सबके लिए पैदा किया गया है और संतान भी सभी के होती है। परन्तु एक बात मुझ में विशेष है; वह तेरा इच्छायुक्त भाव है। बस यही तेरी विशेषता और श्रेष्ठता है। तुझे सब प्रकार से अधिकार है कि तू इससे जैसा भी चाहे काम ले या न भी ले।

अब इसमें सबसे पहली विचारणीय बात जो मैं आपके सामने रखना चाहता हूं, वह माताओं से सम्बन्ध रखती है। कारण, बच्चे को हर एक गुण उस की माता से ही मिलता है। बालक की प्रथम गुरु माता जैसा भी चाहे अपनी संतान को बना सकती है। इसीलिए बच्चे की पहली गुरु माता को ही माना गया है। पिता तो कई वर्ष पीछे कुछ शिक्षा दे सकता है और गुरु तो उनसे भी पीछे बालक ७–८ वर्ष का हो जाने पर जब कोई बालक उसके हवाले किया जाए तब उसे शिक्षा देता है। परन्तु माता सबसे पहली शिक्षा जन्म लेने पर ही नहीं, वरन् जन्म लेने से पहले भी, जबकि बालक अभी गर्भ में ही होता है और स्पष्ट रूप से जीव अभी अपना अस्तित्व उस गर्भ में प्रकट नहीं कर पाता। माता ही अपने पवित्र या अपवित्र और उच्च अथवा नीच विचारों द्वारा, जो वह अपने मन में सदैव लाती रहती है, अपने गर्भस्थ बालक को शिक्षा देती है। इसलिए सभी गर्भवती माताओं को चाहिए कि वे गर्भवती होने की अवस्था में, कभी कोई ऐसे नीच भाव अपने मन में न लाएं, जिन्हें वह अपनी सन्तान में देखना पसन्द न करती हों। वे सदैव ऐसी–ऐसी बातें सोचते रहें

और अन्दर वे सभी गुण पैदा करने का प्रयत्न करती रहें, जो वे अपने पुत्र अथवा पुत्री में देखना चाहती हों और पसन्द करती हों।

स्त्री के गुण

व्याकरण के अनुसार जितने भी गुण स्त्रीलिंग से सम्बन्ध रखते हैं, सब माता से ही प्राप्त होते हैं :—

पहला गुण—स्त्री का श्रृंगार उसकी लज्जा है। उसी लिए लज्जा को स्त्री का सबसे बड़ा आभूषण माना गया है परन्तु जो माता स्वयं इस गुण से वंचित है और लज्जा नहीं करती या लज्जा में सच्चे रूप को न जान कर झूठी लज्जा में लिपटी रहती है वह अपनी सन्तान को इस परम श्रेष्ठ गुण से कैसे सुशोभित कर सकती है। सच्ची लज्जा क्या है? यह एक अलग विषय हो जाता है, जिस पर अभी मैं तंगी के कारण कुछ नहीं कह सकता। अभी यही जानना पर्याप्त होगा कि लज्जा तुम्हारा सर्वश्रेष्ठ और परमोत्तम गुण है, जिसे उसके सच्चे रूप में धारण करने की तुम में से हर एक को पूरी–पूरी कोशिश करनी चाहिए। तभी यह गुण तुम्हारी सन्तान में भी पैदा हो सकता है। दुःख की बात है कि अब और गुणों के समान यह गुण भी हम में दिनों–दिन कम होता जा रहा है।

दूसरा गुण–दया। नारी जाति में स्वभाव से ही पुरुषों की अपेक्षा दया का गुण अधिक होता है। कारण उसका हृदय अति कोमल है। यह किसी को दुःख में नहीं देख सकती। दूसरों के दुःख से द्रवित हो जाती है। इसीलिए

रोगी सेवा आदि कार्य स्त्री, पुरुषों की अपेक्षा अधिक सुन्दरता से कर सकती है। इसके विपरीत पुरुष का हृदय कठोर होता है। वह किसी के दुःख से जल्दी नहीं पसीजता। माताओं को अपने इस गुण की भी रक्षा करनी चाहिए। और समझ–बूझ से काम लेकर इस भाव को यथायोग्य नीति से प्रकट करके संसार के उपकार में लगाना चाहिए और अपनी सन्तान में इसे उत्तरोत्तर बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये।

तीसरा गुण–मैत्री। प्रेम और स्नेह भी कहते हैं। स्त्रियां शीघ्र ही प्रेम करके मित्र और सखी बन जाती हैं। इससे उन्हें प्रायः धोखा भी मिलता है परन्तु वह अपनी प्रकृति से विवश होती हैं। इस गुण को भी यथायोग्य बढ़ाने और अपनी सन्तान में उत्तम रूप से पैदा करने के लिए यत्नशील रहना उचित है।

चौथा गुण–धृति अर्थात् हौसला रखना, थोड़े से दुःख और संकट में घबरा न जाना और परमेश्वर पर भरोसा रखना। कभी उसकी कृपा और दया को न भूलना और उस पर अटल विश्वास रखना।

ये सब गुण सन्तान को तभी मिल सकते हैं, जब माता का हृदय उदार हो। उसमें संकीर्णता न हो।

उदारता और सेवा

उदारता आती है सेवाभाव से। जिस माता के हृदय में

सेवाभाव नहीं, वह कभी उदार नहीं हो सकती। सेवाभाव के बिना अपनी सन्तान को भी उचित रूपसे नहीं पाल सकती, उसका मलमूत्र साफ नहीं कर सकती उसे भलीभांति खिला–पिला नहीं सकती। परन्तु सन्तान की इस सेवा में मोह–माया का अंश अधिक है, जिसमें आवश्यकता से अधिक फंसकर मातायें प्रायः अपनी सन्तान का अनिष्ट भी कर डालती हैं। अनुचित लाड–प्यार से उसे बिगाड़कर फिर आयु भर उसके हाथों दुःखित होकर रोती हैं। इसलिए यथाशक्ति मोहमाया के जाल से बचकर और उचित अनुचित का विचार करके जो माताएं अपनी सन्तान का लालन–पालन करती हैं, उनका मन बड़ा उदार हो जाता है। वे केवल अपनी सन्तान को ही नहीं, वरन् औरों की सेवा में भी परम सुख मानती हैं और किसी प्रकार से कोई कष्ट अनुभव नहीं करतीं। उनके लिए दुःख भी सुख हो जाता है। पराये अपने हो जाते हैं। पशु भी मित्र बन जाते हैं और परम–पिता परमात्मा भी उनसे बहुत प्रसन्न रहते हैं। कारण, सभी जीव परमात्मा की संतान हैं। अपनी संतान से प्रेम करने वाले से कौन प्रेम करके उसे सुख पहुंचाना नहीं चाहता?

पिता के अवगुण

इसके विपरीत प्रायः सारे अवगुण जो पुरुषलिंग से सम्बन्ध रखते हैं, बालक अपने पिता से ग्रहण करता है। काम, क्रोध, स्वार्थ, अहंकार, राग, द्वेष, छल, कपट आदि पिता के बालक में प्रवेश करते हैं। सिगरेट हुक्का, तम्बाकू,

शराब पीना, जुआ खेलना, मांस खाना, हिंसा, लड़ना, झगड़ना आदि दोष बालक में पिता के अनुकरण से ही तो पैदा होते हैं। माता से भी हो सकते हैं परन्तु बहुत कम। इसी प्रकार पिता के गुण भी बालक लेता है परन्तु अधिक नहीं क्योंकि सम्भलने से पहले उसका स्थान माता की गोद में होता है और उसका लालन–पालन माता के दयाभाव पर निर्भर रहता है। ज्यों–ज्यों वह बड़ा होकर पिता के संसर्ग में आता है, वह उसके गुण–अवगुण दोनों लेता जाता है। दृष्टांत रूप से यूं समझो। लज्जा का स्थान है स्त्री की आंखें। पुरुष ने कामातुर होकर स्त्री पर काम भरी दृष्टि डाली और उसकी लज्जा का अपहरण कर लिया। अबोध बालक सब कुछ देख रहा है। क्या वह भी अपने पिता के इस कर्म से प्रभावित न होगा। इससे उसके पिछले जन्म के काम सम्बन्धी संस्कार पिंगुड़े में पड़े–पड़े ही जागृत होकर धीरे–धीरे प्रबल होते जायेंगे। इसलिए माता पिता को कभी अबोध और अनजान बालकों के सामने भी कोई कुचेष्टा न करनी चाहिए। तभी बालक उनके अवगुणों से कुछ सुरक्षित रह सकेंगे। इसी प्रकार पिता के और अवगुणों और दोषों को भी समझ लीजिए।

सेवा धर्म क्या है?

भूखे को रोटी, नंगे को कपड़ा, निर्धन को धन, रोगी को औषधि देना और उसकी सेवा सुश्रुषा करना, अशिक्षित को शिक्षा और अज्ञानी को ज्ञान देकर उस का उपकार करना आदि सभी कुछ सेवा धर्म में शामिल है। कर्म, भक्ति,

लोकाचार सभी कुछ उसमें आ जाते हैं। पन्द्रह लोगों की सेवा करना मानुष–धर्म कहा गया है—

माता–पिता आदि बड़े कुटुम्बी, गुरु, अतिथि और परमेश्वर की सेवा को भक्ति कहते हैं। इससे आत्मा को गुप्तरूप से शक्ति, प्रकाश और सुख मिलता है। गुरु–भक्ति से बुद्धि, ज्ञान और सन्मार्ग प्राप्त होता है। अतिथि की सेवा से हृदय शुद्ध और मन उदार होता है। इसलिए कठोपनिषद् (१–८) में कहा है :—

आशाप्रतीक्षे संगतं सुनृतां चेष्ठापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्वाल्पमेघासो, यस्योनश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे।।

जिस गृहस्थी के घर से अतिथि निराश जाता है। उसका जप–तप–ज्ञान–दान आदि सभी शुभ कर्म निष्फल हो जाते हैं। इसीलिए पिछले जमाने के सद्गृहस्थी अतिथियों को ढूंढ़–ढूंढ़ं कर लाया करते थे और गृह्यसूत्रों में यह प्रार्थना आती है, जो प्रत्येक अग्निहोत्री सद्गृहस्थी को भगवान् से करनी चाहिए :—

अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि।
याचितारश्च नः सन्तु, मा स्म याचिष्म कश्न।।

अर्थात्–हे प्रभो! हमारे घरों में बहुत प्रकार के अन्न (गेहूं, चना, मटर, जौ, दालें आदि) हों जिन से हम अतिथियों का उनकी रुचि के अनुसार सत्कार कर सकें और योग्य अतिथियों को ढूंढ़ते फिरें। हमसे याचना करने (मांगने) वाले तो आवें परन्तु हम किसी से याचना न करें।

प्रभु जैसे अपने आप उदार हैं और जैसा उदार उन्होंने सूर्य, अग्नि, जल, पृथ्वी वृक्ष आदि बनाये हैं। वैसा ही वह हमें भी उदार देखना चाहते हैं।

माता–पिता की सेवा से मनुष्य को सुन्दर सुडौल और बलवान् शरीर प्राप्त होता है और अगले जन्म में ऐसे माता–पिता के घर उसे जन्म मिलता है, जो उसके शरीर को सुन्दर, सुडौल और बलवान् बना सकें। यह फल ऐसी गुप्त रीति से मिलते हैं, जैसे कि माता के गर्भ से बालक का शरीर बनता है। यह सब परमात्मा की कृपा और हमारे पूर्वकर्मों का ही फल होता है।

परमदाता, दयालु दयासिन्धु, परमात्मा की भक्ति से तो सब प्रकार के ऐश्वर्य और सुखों का मिलना स्पष्ट ही है, जिसे सभी आस्तिक मानते हैं।

दूसरे पांच जन जो सेवा करने योग्य माने गए हैं वे दीन–हीन (अपाहिज), निर्धन, विधवा और अनाथ हैं। इनकी सेवा को उपकार कहते हैं। दीन कहते हैं। दुःखिया को जो किसी कठिन संकट और दुःख में फंसा हुआ और उससे घबराया हुआ हो। हीन कहते हैं अपाहिज अंगहीन को जो अपने काम करने में दूसरों की सहायता का मोहताज है। निर्धन अनाथ और विधवा के दुःख की हालत आप सब जानते ही हैं। इनकी सेवा से यश, अन्न और धन प्रकट रूप से मिलता है।

इनके अतिरिक्त पांच जन नट, भाट, भिखारी, यात्री

और मित्र सम्बन्धी और हैं, जो सेवा के योग्य माने गये हैं। इनकी सेवा का फल केवल यश कहा गया है जो प्रकट रूप से मिलता है। नट आदि के खेल तमाशे देखकर यदि उन्हें कुछ न दो तो किसी प्रकार उचित नहीं कहला सकता। आजकल तो सर्कस, सिनेमा आदि तो पहले ही अपना मनमाना टिकट वसूल कर लेते हैं, परन्तु फिर भी पुराने ढंग के तमाशे करने वाले भी देश में कुछ कम नहीं फिरते। यदि लोग उनके तमाशे देखकर अन्न, धन आदि से उनकी सेवा न करें तो वे भूखे मर जायें और देखने वालों की स्थान–स्थान पर निन्दा करते फिरें। अतएव उनकी पालना भी अवश्य होनी चाहिए। यही हाल भाट और भिखारियों का होता है। भीख मांगना यद्यपि अच्छा नहीं और भिखमंगों की साहस वृद्धि भी कम ही होनी चाहिए, परन्तु फिर भी जो पात्र हो उसकी यथाशक्ति सहायता करनी चाहिये। रहे यात्री और मेहमान। वे भी स्पष्ट रूप से यश फैलाने का कारण होते हैं। साधारण मेल मुलाकात को मनुष्य भूल सकता है, परन्तु परदेश में जिसके घर एक दिन भी भोजन पा लेता है, उसे नहीं भूल सकता। अपने मेल–जोल के सगे सम्बन्धियों का तो लेन–देन सभी के साथ चला आता है। यदि आप अपने घर आये–गये की अच्छी प्रकार सेवा सुश्रुषा न करेंगे, तो आप ही देश प्रदेश में किसी से क्या आशा रख सकते हैं? इसलिए मेहमान और संबंधियों का आदर सत्कार भी अवश्य करना चाहिए। यह कुछ महंगा सौदा नहीं। इससे कभी–कभी

संसार में बड़े–बड़े काम निकल आते हैं और दूर–दूर यश जो फैलता है, वह मुफ्त में। इसलिए भगवान् वेद का उपदेश है कि :—"हे मनुष्य! तू अपने हाथों से इनकी सेवा कर और अपने शरीर की कमाई को बलवान् बना।"

सेवा में माताओं का भाग

इस सेवा में माताओं और घर की देवियों का भाग बहुत बड़ा है। वास्तव में वही पुरुष की कमाई को शुद्ध करती हैं। इसलिए उन्हें गृहलक्ष्मी कहा गया है और यश तथा कीर्ति को बढ़ाने वाली और फैलाने वाली माना है। वे वास्तव में गृहस्थ की शोभा और ऋद्धि–सिद्धि हैं। पुरुष अपनी कमाई धन, दौलत, हीरे जवाहर, जायदाद आदि स्त्री से छिपा कर अलग रख सकता है। यद्यपि यह ठीक नहीं, क्योंकि वह उसकी अर्धांगिनी और धर्मपत्नी है। वह भी अपने पति की सब सम्पत्ति मैं बराबर की हिस्सेदार है। शास्त्रों के अनुसार स्त्री पुरुष के पाप पुण्य की भी हिस्सेदार है। अतएव उसे पूरा–पूरा अधिकार है कि वह अपने पति को उसके और अपने कल्याण के लिए पाप मार्ग से बचाये। परन्तु पति यदि उससे कुछ छिपाना भी चाहे तो और तो सब कुछ छिपा सकता है किन्तु घर गृहस्थी का अन्न किसी प्रकार भी उससे छिपाकर नहीं रख सकता। वह तो उसे स्त्री के हवाले करना ही पड़ता है। जैसे वह अपने पति के कमाये हुए अन्न को घर में मिट्टी कूड़े कंकर आदि से साफ करके खाने योग्य बनाती है। वैसे ही वह जब अपने पति की कमाई को, जिसे

शास्त्र में "अन्न" कहा गया है, जब यथा रीति सुन्दरता और पवित्रता के साथ पका कर अपने पितरों (सास श्वसुर और दूसरे बड़े सम्बन्धित गुरुजनों) तथा अतिथियों के सामने (जिन्हें शास्त्रों में 'देवता' कहा गया है) रखती है तभी पुरुष की कमाई शुद्ध होती है अन्यथा नहीं। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने गीता में अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है :–

इष्टान् भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुक्ते स्तेन एव सः।।
यज्ञशिष्आशिनः सन्तो मुच्यनते सर्वकिल्विषैः।
भुंजते ते त्वधं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।

(गीता ३–१२–१३)

अर्थ–देवताओं से प्राप्त हुए भोगों को उन्हें न देकर जो खाता है और उनसे केवल अपने ही शरीर तथा इन्द्रियों की तृप्ति करता है वह देवताओं का स्वत्व हरण करने वाला चोर है।

यज्ञशिष्ट अर्थात् अतिथि आदि के सत्कार से बचा हुआ आन खाने वाला गृहस्थी अमृत खानेवाला होता है और वह सब पापों से छूट जाता है और जो गृहस्थी केवल अपने ही लिए अन्न पकाता है वह पापी है और पाप खाता है।

कौन–सा अन्न अमृत है?

पूर्ण स्वच्छता और शुद्धता से पकाया हुआ अन्न ही अमृत हो सकता है। केवल बाहरी शुद्धि ही इसके लिए काफी न होगी। मानसिक शुद्धि भी बड़ी आवश्यक है।

विचारों की यह पवित्रता सिवाय घर की देवियों के और कहां मिलती है? नौकर चाहे कैसा भी बढ़िया रसोइया और शुद्धाचारी ब्राह्मण भी क्यों न हो फिर भी किराये का पट्टू ही होगा। उस के भाव वैसे शुद्ध और पवित्र कभी नहीं हो सकते, जैसे कि एक माता, आर्य पत्नी, बहन, पुत्री या घरकी दूसरी देवियों के हो सकते हैं। वह देवियां जब सच्चे हृदय और पवित्र भावों से स्नान करके, गायत्री और ओंकार का जाप करती हुई अपने कुटुम्बियों के लिए भोजन पकाती हैं और सच्ची श्रद्धा तथा हार्दिक भक्ति के साथ, बलिवैश्वदेव यज्ञ के मन्त्रों से अग्निरूप परमात्मा और अन्य देवताओं के निमित आहुति देकर उससे अपने पितरों, गुरुजनों और अतिथियों का सत्कार करती हैं, तभी वह अन्न अमृत बनकर खाने वालों के मन और बुद्धि पवित्र करता है और उनके सब पापों का नाश करके पाप कार्यों की ओर से उनकी मन्द वासनाओं को रोक सकता है, अन्यथा नहीं।

शरीर, मन और बुद्धि की पवित्रता और शुद्धता की यह शिक्षा एक विदुषि माता के सिवा और कौन दे सकता है। वह सब गुण एक भाग्यशाली सन्तान अपनी माता के सिवा और किस से पा सकती है। कदापि नहीं?

भगवान् कणाद की कथा

एक दिन आनन्दकन्द भगवान् कृष्णचन्द्र जी अर्जुन और युधिष्ठिर को साथ लिए वन की सैर कर रहे थे। अकस्मात् उन्होंने भगवान् कणाद को खेतों में विचरते हुए

देखा। आप उन खेतों में से फसल उठा ले जाने के पीछे इधर–उधर बिखरे हुए अन्न के दानों को अपने आहार के लिए इकटठा कर रहे थे। भगवान् कृष्ण ने युधिष्ठिर को कुछ शिक्षा देनी चाही, इसलिए यह सलाह दी कि 'राजन्! आज आप भगवान् कणाद को भोजन के लिए निमन्त्रण दे दीजिए।'

धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने अर्जुन से ऋषि को निमन्त्रण दे आने के लिए कहा और वीर अर्जुन सहर्ष उधर रवाना हुआ जहां भगवान् कणाद दाने चुन रहे थे। अर्जुन ने हाथ जोड़कर सम्मान–पूर्वक ऋषि को 'नमस्ते' की और कहा "भगवान्! महाराजा युधिष्ठिर जी ने मुझे आपकी सेवा में भोजन के लिए निमन्त्रण देने को भेजा है। कृपा करके आज आप राजभवन को पवित्र कीजिए।"

अर्जुन के यह वचन सुनकर भगवान् कणाद फूट कर रो दिये। अर्जुन चकित होकर हतबुद्धि सा कुछ देर तक चुपचाप खड़ा देखता रहा और ऋषि के रोने का कारण सोचता रहा। जब कुछ समझ में न आया तो वह भी रो पड़ा और रोते–रोते वहां लौट आया जहां भगवान् कृष्ण और महाराज युधिष्ठिर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वीर अर्जुन को इस प्रकार रोता हुआ देखकर युधिष्ठिर भी चकित रह गए और उससे इस प्रकार सिसकियां भर–भरकर रोने का कारण पूछने लगे। जब अर्जुन ने सब वृतानत कहकर यह कहा कि "मैंने तो कोई एक शब्द भी अपने मुख से ऐसा नहीं

निकाला जो कठोर या अपमान सूचक हो। फिर न जाने ऋषि के रोने का कारण क्या है" तब तो युधिष्ठिर जी के भी आश्चर्य की सीमा न रही और वह भगवान् कृष्ण के मुख की ओर देखने लगे।

भगवान् ने बड़े भोलेपन से कहा "भाई, इसमें ऐसे चकित होने की बात ही क्या है? ऋषि से स्वयमेव उनके रोने का कारण पूछ लें!" भगवान् के ये शब्द सुनकर सब ऋषि की ओर चले। परन्तु युधिष्ठिर का यह साहस न हुआ कि वह ऋषि से उनके रोने का कारण पूछ सकें। अतएव भगवान् कृष्ण ने ही हाथ जोड़कर रोते हुए ऋषि से पूछा—"प्रभो! आपके यूं रोने का कारण क्या है? क्या वीर अर्जुन ने अनजाने कोई अपमानजनक बात कह दी जिससे आपके दिल को ठेस पहुंची है?"

ऋषि ने बड़ी कठिनाईं से अपने आंसुओं और हिचकियों को रोक कर कहा—"भगवन्! मैं यह सोच–सोचकर रो रहा हूं कि आजकल क्षत्रियों में इतना अभिमान और अहंकार बढ़ गया है कि वह स्वयम् अतिथि के पास जाकर निमन्त्रण नहीं दे सकते और इस कार्य के लिए वे अपने सेवक को भेजने लगे हैं या किसी अनजाने कारण से मैं ही इस योग्य नहीं रहा कि धर्मपुत्र युधिष्ठिर अपने आप मेरे पास आकर मुझे भोजन के लिए निमन्त्रण देते? यही सोच कर मैं रो रहा हूं। यदि मेरा कुछ दोष नहीं और युधिष्ठिर ने ही अभिमान में फंसकर अतिथि का यह अपमान किया है, तो मुझे देश का

कल्याण दिखाई नहीं देता क्योंकि अभिमान और अहंकार चक्रवर्ती राज्य को भी नष्ट कर देता है।'

सो भद्र पुरुषों और देवियों! इसीलिए इस वेद मन्त्र में वेद भगवान ने यह उपदेश दिया कि :–

"स्वयम् यजस्व स्वयम् जुषस्व
महिमा ते अन्येन न सन्नशे।।"

अर्थात् अपने आप ही अच्छे विद्वानों को मान और आप ही उनकी सेवा कर जिससे तेरी बड़ाई तेरा प्रताप औरों के साथ नष्ट न हो।

महाभारत के समय तक हमारे देश में अतिथि पूजन की इतनी महत्ता मानी जाती थी। किन्तु खेद है कि अब यह प्रथा सर्वथा नष्ट हो गई है और भय है कि कहीं हमारी आगामी सन्तान पश्चिमी सभ्यता की रौ में बहती हुई 'अतिथि पूजा' का नाम तक भी न भूल जायें।

चार प्रकार की सेवा

अब मैं आपको यह बतलाना चाहता हूं कि सेवा चार प्रकार की होती है। यदि हम सेवा के भाव को भली–भांति जान और समझ कर उसे धारण कर लें तो हमारा कल्याण निश्चित है। क्योंकि वेद वाक्य कभी झूठा नहीं हो सकता अन्यथा हमारे कल्याण का और कोई उपाय नहीं, चाहे हम कितने भी जप, तप और यज्ञ क्यों न करें। यह साधन केवल उसी समय उपयोगी हो सकते हैं, जबकि हम वेद भगवान् की आज्ञा पालन करके उसे अपने जीवन में भी स्थान दें

अन्यथा मुख से वेद पुकारने या दिखावे के जप, तप, यज्ञ आदि का अनुष्ठान करने से हमें कुछ लाभ नहीं पहुंच सकता।

हमें जानना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु का चाहे वह अच्छी हो या बुरी अपना गुण, अपना कर्म और अपना स्वभाव होता है और प्रत्येक कर्म का कुछ न कुछ परिणाम भी अवश्य होता है। ऐसे ही सेवा भी एक कर्म है और इसका परिणाम भी अवश्य होता है। इसीलिए कहा है कि :—

सेवा करे सो सेवा पाये

यह लोकोक्ति किसी प्रकार भी झूठ नहीं। परन्तु फिर भी बहुत से मनुष्य ऐसे देखे जाते हैं, जो इसे सत्य और पूर्ण सत्य मानने को तैयार नहीं। कारण, वे सेवा करते हैं, अपनी ओर से पूरी लगन के साथ और सच्चे दिल से, परन्तु फिर भी उन्हें यही शिकायत रहती है कि हमें यश नहीं मिलता। यश शायद हमारे भाग्य में ही नहीं। इसलिए भलाई करते बुराई गले पड़ती है।

उनकी यह शिकायत कुछ भी नहीं होती, परन्तु उनसे कहीं न कहीं कुछ भूल अवश्य हो जाती है, जिसे वे अपनी अल्पज्ञता से समझ नहीं सकते किन्तु वह भूल अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती और इस प्रकार वे अपनी की हुई सेवा के यश से वंचित रह जाते हैं या उल्टे अपयश के ही भागी बन जाते हैं। इसलिए सबको इस विषय पर ध्यान से विचार करना चाहिए।

सर्वोत्तम सेवा

सबसे उत्तम सेवा वह होती है, जिससे सेवा करने वाले के मन में सेवा करने का विचार करने से ही आनन्द आता है और सेवा कर चुकने के पश्चात् भी वह आनन्द केवल बना ही नहीं रहता वरन् उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। जैसे माता–संतान सेवा के विचार से जब गर्भाधान संस्कार का विचार करती है, तो उस का हृदय हर्ष से भर जाता है और जब वह गर्भ धारण कर लेती है तब तो वह आनन्द से परिपूर्ण हो जाती है। फिर जैसे–जैसे उसका गर्भस्थ बालक बढ़ता जाता है और उसके अन्य संस्कार होते जाते हैं, वैसे ही उसका आनन्द भी बढ़ता जाता है। बालक जन्म के अनन्तर तो वह आनन्द अपनी पराकाष्ठा को पहुंच जाता है फिर संतान–लालन–पालन और संतान–सेवा का एक नया और अनुपम सुख आरम्भ होता है, जो चिरकाल तक उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है और एक प्रकार से अपार और अनन्त सिद्ध होता है। कारण ऐसी शुभ और शुद्ध विचार वाली माताएं कभी संतान–वियोग नहीं देखती और यदि भाग्यवश कभी कोई ऐसा दुरअवसर आ भी पड़ता है तो उसे भी प्रभु इच्छा समझ कर सहज में ही सहन कर लेती हैं। उनके इस सुख का वे आजकल की विषय–सुख–सेवी माताएं किस प्रकार अनुमान कर सकती हैं, जो संतान को भार स्वरूप समझती हैं और जिन्होंने स्त्री जीवन को पवित्र और यज्ञमय बनाने की जगह अपवित्र और भोगमय बना डाला है और जो

विषय भोग की लालसा में ही संतान को भी भार रूप समझकर उसके पैदा न होने के लिये नाना प्रकार के उपाय करती और सोचती रहती हैं।

ऐसी सेवा का फल गुप्त रहता है, जिसका प्रभाव सेवा करने वाला ही जानता है। चाहे और कोई उसे जाने या न जाने, देखे या न देखे, जैसे कि उपरोक्त माता के परम–सुख की सीमा को न कोई जान ही सकता है और न देख ही सकता है। केवल उसका अनुमान ही किया जा सकता है।

दूसरी सेवा

दूसरी सेवा जो प्रायः सर्वसाधारण किया करते हैं वह पहले तो आनन्द देती है, परन्तु पीछे उस पर पछ्तावा आता है। जैसे कोई दर्द भरी अपील सुनकर अथवा किसी की बातों से प्रभावित होकर कोई सेठ हजार दो हजार रुपया दान दे देता है परन्तु पीछे से पछताता है कि फिजूल इतनी बड़ी रकम खोई। यदि नहीं देता तो अच्छा था कितने काम आती। इत्यादि।

ऐसे हर एक ही सेवा दुःखदायी होती है, यही कारण है कि प्रायः सेवा करने वाले सज्जन पीछे से लोगों की शिकायत और बुराई करते फिरा करते हैं और इस प्रकार अपने रोष तथा क्लेश को औरों पर प्रकट करके अपने दिल की भड़ास निकालते हैं तथा औरों को भी सेवा के पवित्र मार्ग से हटाने का पाप अपने सिर लेकर अपने कुकर्मों का भार बढ़ाते हैं।

तीसरी सेवा

तीसरे प्रकार की सेवा वह होती है जिससे सेवा करने वाले को तो आनन्द मिलता है परन्तु उसके माता–पिता और दूसरे मित्र स्नेही जो उस सेवा के पवित्र रंग से रंगे हुए नहीं होते, वह कष्ट और दुःख मानते हैं। इस प्रकार माता–पिता आदि के दुःख पाने और कुढ़ते रहने का फल उस सेवक को भी अवश्य मिलता है और उसे आप भी कभी माता–पिता या मित्र स्नेही के रूप में दुःख भोगना और कुढ़ना पड़ता है। चाहे वह अपनी आत्मा को पवित्रता और महत्ता के कारण उस दुःख और कष्ट को कुछ बहुत अनुभव न करे। इसलिए माता–पिता आदि को चाहिए कि अपने आत्मज या किसी और स्नेही को सेवा में रत देखकर कदापि दुःख या क्लेश न मानें। क्योंकि इससे केवल वे आप ही दुःख नहीं भोगते परन्तु अपने प्रियजन के सुख के मार्ग में भी वे कांटे बोते हैं, जिसके पाप से वे कभी नहीं बच सकते। यदि वे अपने प्रियजन के पवित्र और पावन कार्य को देखकर अपने आप को धन्य मानें और प्रफुल्लित हों, तो उसके साथ ही साथ उनकी अपनी आत्मा भी सहज में ही उन्नत और पवित्र होती जायेगी। यदि उन्होंने अपने माता–पिता के धन तथा सम्पत्ति से वह सेवा की होगी तो वे भी उसके पुण्य और उससे प्राप्त होने वाले सुख के भागी होंगे और यदि केवल हाथ पैर से ही सेवा की होगी तो माता–पिता को उससे सुख और यश प्राप्त होगा, पुण्य का भागी वे सेवक ही रहेंगे।

चौथी सेवा

चौथी सेवा तन की सेवा है, जिसमें धन द्रव्य कुछ भी खर्च नहीं होता। केवल सेवा भाव मन में होने से गरीब से गरीब और निर्धन से निर्धन आदमी भी यह सेवा कर सकता है। एक निर्धन पुत्र है, वह अपने माता–पिता को वह सब सुख तो नहीं दे सकता जो धन से प्राप्त होता है। न उन्हें अच्छे–अच्छे भोजन ही खिला सकता है। न सुन्दर–सुन्दर बहुमूल्य वस्त्र ही पहना सकता है। न ही तीर्थ यात्रा पर ही ले जा सकता है परन्तु मन, वचन और कर्म से उनका आज्ञाकारी है, कभी उन्हें कोई कटु वचन नहीं कहता, वह उसकी दरिद्रता और दीन अवस्था देखकर कुढ़ते भी रहते हैं, परन्तु वह इसकी कुछ परवाह नहीं करता और इसे अपने कर्मफल का भोग समझकर जैसे भी हो सकता है माता–पिता की सेवा करता रहता है और उनका आशीर्वाद लेता रहंता है। वह अपनी निर्धनता में भी उनके आशीर्वाद के प्रताप से सदैव सुखी रहेगा और बड़े से बड़े कष्ट तथा क्लेश भी उस पर आकर सुखपूर्वक टल जायेंगे।

परमात्मा का कांटा

क्योंकि सर्वव्यापक अन्तर्यामी परमपिता परमात्मा के और सब अनन्त गुणों में एक बहुत बड़ा गुण न्याय का भी है, जो संसार में अपना प्रभाव डाले बिना कभी नहीं रह सकता। यह दूसरी बात है कि हम अपने अज्ञान, अविद्या आदि के कारण चाहे उसे देख और समझ सकें या न समझ सकें।

इसी लिए कहा जाता है कि पापी की नाव भर कर डूबती है और परमात्मा के न्यायालय में अन्धेर नहीं। परमात्मा का कांटा किसी ईमानदार से ईमानदार और धर्मात्मा से धर्मात्मा सर्राफ के धर्मकांटे से भी अधिक सूक्ष्म है और वह कभी बाल बराबर भी भूल नहीं करता। हम संसार की दृष्टि से तो अपने कर्मों और मन के भावों को छिपा सकते हैं, वरन् हमारे बहुत से सूक्ष्म भाव ऐसे हैं जिन्हें हम आप भी नहीं जानते। हमें यह ज्ञान तक भी नहीं होता कि यह कब और कैसे हमारे मन में पैदा होते हैं और कब लोप हो जाते हैं, परन्तु सवज्ञ परमात्मा से वे भी छिपे नहीं। वह उन्हें भी जानता है 'और कभी–कभी हमारे उन भले–बुरे भावों की ओर से स्वप्न में हमें चेतावनी भी देता है।

जब संसार हमें बड़ा पुण्य–आत्मा और धर्मात्मा समझता है और हम स्वयम् भी अपंनी पवित्रता और श्रेष्ठता पर अभिमान किया करते हैं, तब भी कभी–कभी हमें ऐसे भयानक और कष्टदायक स्वप्न आते रहते हैं जो कम से कम उस समय तो हमें व्याकुल देखने और मानने की आदत पड़ जाती है, तभी हम अपने सुधार की चिन्ता करके धीरे–धीरे कुछ से कुछ बनते जाते हैं।

अन्य चार प्रकार की सेवा

इनके अतिरिक्त चार पकार की सेवा और भी है। १. स्वार्थ सेवा २. यश सेवा ३. लोकाचार सेवा और ४. सच्ची सेवा।

स्वार्थ सेवा में जो भी काम किया जाता है दिल से और पूरी लगन से किया जाता है। उसमें भावना भी होती है परन्तु वह स्वार्थ भावना होती है, जो सेवा करने वाले के अंग–अंग पर अपना प्रभाव रखती है। यही स्वार्थ भावना दूसरे के मन पर भी अपनी छाया डालती रहती है। कारण, हमारा मन एक दर्पण के समान है, यह जितना भी अधिक साफ होगा, उतनी ही उपरोक्त छाया भी अधिक साफ होगी। यही कारण है कि विशुद्ध आत्मा और पवित्र मन वाले योगी दूसरों के मन की बात जान लेते हैं और उन्हें धोखा नहीं दिया जा सकता। यह क्यों? स्वार्थी का अंग–अंग दूसरों पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता और जाने अनजाने तौर पर उन सब लोगों के मन में भी स्वार्थ को जागृत कर देता है, जिनकी सेवा करते हुए वह उनके संसर्ग में आता है। कारण हमारे अंग–अंग में एक विद्युत्–शक्ति विराजमान है, जो सदैव अपना संदेश संसार को देती रहती है और कोई नहीं समझ सकता परन्तु बेसमझे ही स्वाभाविक तौर पर उससे प्रभावित हो जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि :—दिल को दिल से राह है।

और इसीलिए सभी धर्मों में सत्संग की महिमा गाई गई है। दुर्बल मन और विचार वाले सज्जन भी स्वार्थ की संगत और सेवा से स्वार्थी को अपने कार्य में अन्तिम सफलता बहुत कम होती है और यदि कभी होती भी है तो अपने किसी पूर्व जन्म के पुण्य प्रताप से।

स्वार्थी सेवक का स्वार्थ जब तक सिद्ध होता रहता है, तब तक तो वह प्रसन्न रहता है और खुशी–खुशी सेवा करता रहता है, परन्तु जब स्वार्थ पूरा होने में उसे कोई रुकावट दिखाई देती है तो वह शीघ्र ही निराश होकर सेवा छोड़ देता है और संसार को कृतघ्न अर्थात् एहसान न मानने या भूल जाने वाला कहने लगता है। पहले जिनकी वह सेवा किया करता था और सेवा करते–करते कभी न थकता था अब उनकी जगह–जगह निंदा करता फिरता है।

बहुत से आदमी तो धन दौलत पाकर इतने स्वार्थी हो जाते हैं कि वे दूसरों के सुख और कष्ट की भी कुछ परवाह नहीं करते। नौकर को ४/– या ६/– रुपये मासिक वेतन देकर यह समझ लेते हैं कि उन्होंने उसे मोल ही ले लिया है। चाहे चौबीस घण्टे काम लेते–लेते उसे जान से ही क्यों न मार डालें और उसके स्वास्थ्य का सत्यानाश ही क्यों न कर दें? वे उसे मनुष्य ही नहीं समझते। पशु समझते हैं, वरन् पशु से भी गया बीता निर्जीव ईंट या पत्थर के समान। अपने पशु घोड़े, बैल, कुत्ते तक के आराम और आहार की तो उन्हें कुछ चिन्ता होती भी है परन्तु नौकर की नहीं होती। कारण, वे समझते हैं कि घोड़ा, बैल अथवा कुत्ता मर गया तो और लेने में बड़ा रुपया खर्च हो जायेगा। इसलिए वे उसे अच्छा खिलाते–पिलाते हैं और काम भी उसकी शक्ति से बढ़कर नहीं लेते। उसे सर्दी, गर्मी से भी बचाते हैं। परन्तु नौकर का क्या है? जो उन्हीं के समान मनुष्य है। उन्हीं के

समाज जी जान, प्राण, मन, हाथ, पैर, आंख, नाक आदि सब कुछ रखता है, सुख, दुःख, सरदी, गर्मी, रोग शोक भी उन्हीं के समान अनुभव करता है और शायद उन्हीं के समान स्त्री, पुत्र, माता–पिता और अन्य स्नेही तथा कुटुम्बी भी रखता है। परन्तु वे स्वार्थी लोग इन सब बातों का कभी भूल कर भी कुछ विचार नहीं करते। वे समझते हैं, नौकर क्या है? काम करते–करते बीमार हो गया तो हस्पताल भेज देंगे। वहां चाहे मरे या जीवे। उनकी बला से! हस्पताल भेजने की कृपा भी बहुत विरले ही करते हैं। अधिकतर स्वार्थी स्वामी तो रोगी होते ही नौकर को निकाल बाहर करते हैं और भूखा प्यासा कुत्ते की मौत करने के लिए छोड़ देते हैं।

जब तक वह गरीब स्वस्थ और बलवान् था, सेठ जी दस बजे रोटी खा कर हुकम चढ़ा दते थे कि बारह बजे, एकं नींद लेकर दूध पीवेंगे। अब बिचारा नौकर चूल्हे के पास बैठा अपनी क़िस्मत को रो रहा है और सेठ जी पलंग पर खर्राटे ले रहे हैं। वे नहीं सोचते कि उनके इस अत्याचार का नौकर के स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा? वे ४/– ६/– रुपये मासिक के बदले उसके प्राण लेना चाहते हैं, तो उनके अपने प्राणों की रक्षा कौन कर सकता है? इसीलिए तो ऐसे अन्यायों और अत्याचारी लोग सदा रोगी रहते हैं और अच्छे से अच्छे डाक्टरों, वैद्यों, हकीमों को अपना धन लुटाकर भी आरोग्यता प्राप्त नहीं कर सकते। दूसरों के स्वास्थ्य की कुछ चिन्ता न करने और उसे

बिगाड़ने वाला, अपने आप कैसे स्वस्थ रह सकता है। वह यह नहीं जानता और न जानना ही चाहता है। यदि वह यह जानता हो, तो ऐसा कदापि न करे। उसके इस विचार का एक मात्र कारण अज्ञान और उससे उपजा हुआ अभिमान है।

नौकरों से कैसे काम लें?

इस पर कई लोग कहेंगे तो क्या नौकरों से काम न लें? जब मजदूरी देते हैं तो काम भी अवश्य लेना पड़ेगा। परन्तु यह काम लेना और मजदूरी देना नहीं, यह तो कोरी ठगी और डकैती है, वरन् उससे भी कुछ बढ़कर। चोर, ठग और डाकू तो केवल धन ही अपहरण करते हैं परन्तु आप तो उस गरीब की जान के ग्राहक बन रहे हैं। एक आदमी ने सब कुछ होते हुए भी अपनी दुकान पर बिजली का पंखा नहीं लगवाया। मैंने इसका कारण पूछा तो कहने लगा, उसका खर्च और बिल बहुत हो जाता है। ६–७ रुपये में एक नौकर रख लिया है। रोटी में रोटी खा लेता है, घर का काम काम भी कर लेता है और समय पर पंखा भी खेंच देता है। अब आप ही कहें, क्या यह न्याय है? क्या यह धर्म है कि एक बिचारा मुसीबत का मारा मजबूर होकर इसलिए आपके घर नौकरी के लिए आता है कि अपनी मुसीबत के दिन काटे और बाल–बच्चों के लिए कुछ रोटी का सहारा पैदा करे, परन्तु आप उसकी शक्ति और स्वास्थ्य का भी कुछ विचार न करके दिन–रात इतना काम करा लेते हैं कि उसकी जीवन बेल ही कट जाती है और उसके बाल–बच्चों की

रोटी का सहारा होते–होते वह सहारा पैदा करने वाला आप ही आपके अनर्थ और अत्याचार की भेंट हो जाता है। इसका क्या कुछ भी फल आप को न मिलेगा? वह मरने वाला बिचारा नहीं दे सका तो क्या न्यायकारी परमात्मा भी नहीं देंगे। वही देंगे और अवश्य देंगे, बल्कि दे रहे हैं। साथ ही लेखा–जोखा बराबर हो रहा है।

इस हाथ ले उस हाथ दे–वाली बात है। आप समझते नहीं तो यह आप की बुद्धि का दोष है, किसी और का दोष नहीं।

मजदूरी देना और काम लेना तो यह है कि काशीराम दुकान पर काम करता है। ग्राहकों से लेन–देन सौदा व्यापार करके दुकान की आय बढ़ाता है। नौकर काम के समय पंखा करके उसकी काम करने की शक्ति को बढ़ाता है। दोनों एक ही कल के दो पुर्जों के समान दुकान के हित के लिए काम करते हैं, इसमें कोई दोष नहीं, परन्तु यदि काशीराम काम करके खा–पीकर आराम से सो जाता है और नौकर को आराम करने के लिए उचित समय देने की जगह उसे यह आज्ञा देता है कि मैं तो सोता हूं तू पंखा कर, तो वह पाप करता है। जिसका फल यदि नौकर नहीं दे सकता तो कोई और अवश्य देगा, जो नौकर और काशीराम दोनों से बलवान है, दोनों की रक्षा और दोनों का पालन–पोषण करता है।

इससे स्पष्ट है कि हम अपने साधारण कामों को भी

कैसे पापमय बना लेते हैं। अंग्रेज लोग या बड़े अफसर भी पंखा खिंचवाते हैं और जब वह पंखा कुली थककर भी सो जाता है तो वह उसे ठोकर मारते हैं और यह भूल जाते हैं कि वह भी उन्हीं जैसा मनुष्य है यदि थक गया तो क्या है? थक जाना मनुष्य का स्वाभाविक दोष है। वे भी थक ही जाते हैं। कई बार ही पिटते–पिटते पंखा कुलियों को चोट भी लग जाती है। फिर उन अफसरों में से जो सहृदय होते हैं वे पंखा–कुलियों को कुछ इनाम देकर खुश करना चाहते हैं। गरीब पंखा–कुली रुपया दो रुपया से अपना दुःख भूल जाता है परन्तु यह इनाम नहीं गुप्त ठगी है। वे अपने दोष को इस गुण से छिपाना चाहते हैं। उन्हें याद रखना चाहिए कि वे अपने इस अन्यायाचरण की निवृत्ति के लिए परम पिता परमात्मा को ऐसी आसानी से ठग न सकेंगे। उसके दरबार में तो उन्हें अपने इस पाप का पूरा–पूरा दण्ड अवश्यमेव पाना ही पड़ेगा।

छोटी–छोटी बातें

आप अपने दिल में कहेंगे कि यदि हम ऐसी छोटी–छोटी बातों का विचार करें तब तो जीना ही कठिन हो जाए! परन्तु वास्तव में आप जिन्हें छोटी–छोटी बातें समझते हैं वे ही दूसरों के लिए दुखदायी होती हैं और ये छोटी–छोटी बातें बढ़ते–बढ़ते बड़ी हो जाती हैं। बूंद–बूंद करके ही तालाब भर जाता है। लोग बोली बोलते हुए सेर दो सेर की कमीवेशी का तो कुछ ख्याल ही नहीं करते, परन्तु वही कमी बढ़ते–बढ़ते

दिवाला निकाल देती है, और यदि बेशी है तो लखपति बना देती है। इसलिए पाई–पाई की सम्भाल करने से ही रुपयों और अशरफियों की सम्भाल होती है। बड़े आदमी अपने गर्व और अहंकार में साधारण पापों को छोटी–छोटी बातें कहकर टाल दिया करते हैं। परन्तु यह याद रखें कि परमात्मा के दरबार में जब वे पेश होंगे तो उन्हें पाई–पाई का हिसाब साफ कर देना होगा। और वहां क्या, वह तो यहां ही सब लेना देना ठीक कर लेता है परन्तु मूर्ख मनुष्य यह नहीं समझता कि कौन–सा दण्ड उसे किस अपराध का मिला है और भूला हुआ मनुष्य यही समझता है कि मेरे साथ अन्याय हुआ है किन्तु उस न्यायकारी के दरबार में अन्याय नहीं जो भी सुख दुःख हमें मिल रहे हैं, सभी हमारे अपने ही जाने अनजाने पाप कर्मों के परिणाम हैं। इसलिए हमें उनकी ओर से लापरवाह नहीं रहना चाहिए और अपने दैनिक जीवन में फूंक–फूंक कर कदम रखते हुए सदैव याद रखना चाहिए कि –"नेकी का बदला नेक है।

बदी का बद अन्जाम।।"

यश सेवा

दूसरी प्रकार की सेवा वह है जो संसार में यश और कीर्ति प्राप्त करने के लिए की जाती है। यह भी एक प्रकार का स्वार्थ ही है। इसी स्वार्थ–सिद्धि के लिए लोग पानी की तरह रुपया बहाते हैं। मैम्बरी हासिल करने के लिए हजारों रुपया खर्च करते हैं, दर–दर जा कर छोटे से छोटे आदमी

से वोट की भीख मांगते हैं जितनी बड़ी मैम्बरी होती है, उतनी ही अधिक जिल्लत और ख्वारी से उसे प्राप्त किया जाता है।

परन्तु यह सब अधिकारी और स्वार्थी लोगों को करना पड़ता है। सच्चे निःस्वार्थी लोग तो इन मेम्बरियों से दूर भागते हैं पर वह उनके पीछे मारी–मारी फिरती है। लोग स्वयमेव उनके पास डेपुटेशन लेकर जाते हैं और उनसे मेम्बर बनने को कहते हैं। महात्मा गांधी जी की जीती जागती मिसाल आपके सामने है। वह कांग्रेस के साधारण चार आने के मेम्बर भी नहीं परन्तु कांग्रेस का कौन–सा काम है जो उनकी आज्ञा और इच्छा के विरुद्ध होता है। कांग्रेस गवर्नमेंट भी उनके विरूद्ध कोई काम करने का साहस करती डरती है। अभी युद्ध के सम्बन्ध में सम्मति लेने के लिए सब से पहले किसे बुलाया गया? क्या? किसी राय बहादुर या खान बहादुर को? किसी सर, राजा या नवाब को? नहीं इन्हें तो गवर्नमेंट अपना सेवक समझती ही है। कारण यह है कि वे स्वार्थी हैं। उन्हें जैसे भी चाहे अपनी उंगली पर नचा सकती है। परन्तु महात्मा गांधी जी तपस्वी, त्यागी और निःस्वार्थी हैं। वे जो भी करते हैं देश के हित और जाति के कल्याण के लिए उचित ही करते हैं। भूल उनसे भी हो सकती है। परन्तु वह भूल किसी स्वार्थ को सामने रखकर जान–बूझकर ही हुई भूल कदापि न होगी। सच्ची भूल होगी क्योंकि वह भी तो आखिर अल्पा इन्सान ही हैं। सर्वज्ञ

परमात्मा तो नहीं। किन्तु उन्हें जब यह ज्ञात हो जाएगा कि वास्तव में उन्होंने भूल की है तो वह उसे स्वीकार करने में भी टालमटोल न करेंगे और यदि आवयक समझेंगे तो उसके लिए उचित प्रायश्चित करने के लिए भी तैयार हो जायेंगे, चाहे वह कैसा भी कठिन क्यों न हो। यही उनका महात्मापन है और यही उनके गौरव तथा महत्ता का सबसे बड़ा चिह्न है।

नौकर और यश का भूखा

नौकर की स्वार्थ सेवा में और इन यश के स्वार्थ सेवकों की सेवा में कुछ बहुत बड़ा अन्तर नहीं। फल का लोभ दोनों में ही एक–सा है। बड़ों का लोभ भी बड़ा है। नौकर २–४ रुपए में सन्तुष्ट हो जाता है परन्तु उन्हें तो हजारों लाखों रुपये भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते। अतः वे यह न समझें कि वे अपने नौकर से किसी प्रकार अधिक सुखी हैं या अधिक अच्छे हैं। संभव है कि वे इससे कई गुणा, हजारों लाखों गुणा अधिक बुरे नीच छली कपटी पापी हों। इसीलिए वे प्रायः दुःखी भी उससे अधिक हैं क्योंकि पाप और दुष्कर्म का फल दुःख और असन्तोष के सिवा कदापि कुछ और नहीं हो सकता।

बोओ पेड़ बबूल के तो आम कहां से पाओ?

हां! यह बात अवश्य है कि उनके नौकर को किसी और चीज के अभाव का दुःख है और उन्हें किसी और चीज का, और उनका अभाव है भी केवल भ्रामक और कल्पित है।

यथार्थता उसमें बहुत कम है, इसीलिए वे अधिक दुसाध्य और दुःखदायक भी हैं।

नौकर को जब–जब उसकी सेवा का पूरा–पूरा और आशातीत फल नहीं मिलता तो वह क्या करता है सेवा से विमुख हो जाता है और अपने स्वामी की जगह–जगह निंदा करता फिरता है। यही हाल यश के अभिलाषी का होता है। जब उसकी मनोकामना पूरी नहीं होती तो वह भी सेवा से उपराम होकर उन्हीं लोगों की जगह–जगह निन्दा करने लगता है, जिनकी सेवा करना वह प्रकटतः अपना परम धर्म बतलाया करता था। यह सेवा नहीं, सच्ची सेवा नहीं, अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए केवल रिश्वत देना है। सेवा के छल और कपट से लोगों को ठग कर उन्हें बुद्धू बनाने और उनसे अपना मतलब निकालने की एक चाल है। यदि लोग उसकी चाल में नहीं आते, वरन् उल्टा उसे बुद्धूं बनाकर समय पर ठेंगा दिखा देते हैं, तो उसे शिकायत का क्या अवसर हो सकता है?

जैसे को तैसा

तो एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है। उसे समझना चाहिए कि भगवान् ने यहां का यही मेरे छल–कपट का "तुरन्त दान महा कल्याण" के रूप में मुझे फल देकर एक प्रकार से वास्तव में मेरा महाकल्याण किया है, नहीं तो मैं कपट मुनि बना हुआ न जाने कैसे–कैसे अनर्थ करके अपने पाप की पोट को बढ़ाता और भारी करता रहता। परन्तु ऐसे समझने

वाले भी कम ही होते हैं और जो इस प्रकार समझ जाते हैं, उनका सुधार भी शीघ्र ही हो जाता है। और वे शीघ्र ही सच्ची सेवा के श्रेय मार्ग पर चल निकलते हैं।

जो व्यक्ति यश और कीर्ति के अभिलाषी हैं उन्हें याद रखना चाहिए कि छोटे और दीनजनों की सेवा से जितना यश फैलता है उतना बड़ों की सेवा से नहीं। कारण, उनमें दया, धर्म और कृतज्ञता के भाव बड़े आदमिय्रों की अपेक्षा बहुत अधिक होते हैं। उनकी मांगें और आवश्यकतायें भी बहुत कम होती हैं। अतः उनकी सेवा कुछ बहुत महंगी भी नहीं पड़ती और वे बड़े कहलाने और माने जाने वाले लोगों की अपेक्षा उपकार को मानते और पहचानते भी अधिक हैं। उनकी सेवा से परमात्मा भी अधिक आनन्दित होते हैं। कारण, हम सब उनकी सन्तान ही तो हैं और कौन सा ऐसा माता–पिता हो सकता है जो अपनी कुपात्र से कुपात्र और अवज्ञाकारी सन्तान को दुःख के समय सेवा करने वाले सज्जन पर प्रसन्न नहीं होगा, चाहे वह सेवा उसने अपने किसी स्वार्थवश ही की हो।

भगवान श्रीकृष्ण का उपदेश

भगवान् श्रीकृष्ण ने महाभारत में एक स्थान पर यह उपदेश किया है कि जुआरी का कभी विश्वास न करो। वह बड़ा लोभी होता है। उससे सदैव धोखा मिलने की संभावना रहती है। स्वार्थी और यश का भूखा आदमी भी जुआरी से किसी प्रकार कम नहीं होता। जुआरी तो केवल धन प्राप्ति के

लिए जुआ खेलता है, परन्तु स्वार्थी और यश का भूखा अपनी स्वार्थसिद्धि और यश प्राप्ति के लिए दांव पर दांव लगाता चला जाता है, और जैसे–जैसे इस जुए में हारता है, उसकी दुरेच्छा और कुवासना और भी बढ़ती और भड़कती चली जाती है। न केवल यही वरन् हारे या जीते, कभी भी और किसी प्रकार भी शान्ति होने में नहीं आती। परमपिता परमात्मा ही कभी कृपा करके उसे सद्बुद्धि प्रदान करें तभी शांति हो तो हो।

कृतघ्न किसी का मित्र नहीं होता

जो मनुष्या परमात्मा की प्रदान की हुई अनेक बहुमूल्य से बहुमूल्य वस्तुओं और शक्तियों के लिए कभी उनका धन्यवाद नहीं करता और उनका कृतज्ञ नहीं होता, वह कभी किसी मनुष्य का मित्र अथवा कृतज्ञ कैसे हो सकता है? वह तो सभी जगह अपने स्वार्थ को सामने रखेगा। माता–पिता की सेवा करेगा तो स्वार्थ भाव से, स्त्री–पुत्रादि को पालेगा तो स्वार्थ से, साधु सेवा करेगा तो धन, पुत्र या किसी और स्वार्थसिद्धि के लिए। मैं यह नहीं कहता कि लोग माता–पिता की सेवा ही न करें। न करने से तो कुछ थोड़ा बहुत स्वार्थ सामने रखकर भी जो सेवा की जाए वही अच्छी है। परन्तु यह निकृष्ट सेवा है। उत्तम सेवा तो वही है, जो पितृ ऋण से उऋण होने के लिए अपने कर्तव्य को सदा सामने रखकर की जाती है, परन्तु यह उन्हीं भाग्यशाली और धर्मपरायण माता–पिता को मिल सकती है जो पितृ ऋण से उऋण होने

के लिए ही सन्तान पैदा करते हैं, कामवासना को सन्तुष्ट करने के लिए नहीं। उन कामी और स्वार्थी पुरुष-स्त्रियों के तो जो अपनी सन्तान को भाररूप समझते हैं और बर्थकन्ट्रोल आदि उपद्रव्यों का प्रचार करते हैं, कामी और स्वार्थी सन्तान पैदा होगी।

इसलिए सभी को यथाशक्ति स्वार्थभाव और स्वार्थी लोगों से बचने की कोशिश करके अपने अन्दर निष्काम-भाव पैदा करना चाहिए। स्वार्थ सेवा वास्तव में कोई सेवा नहीं होती। यह तो एक प्रकार की दुकानदारी होती है। लोग इस सेवा से केवल दुनिया को ही नहीं परन्तु परमात्मा को भी ठगना चाहते हैं। वह सर्वज्ञ अन्तर्यामी उनकी ठगाई में कब आ सकते हैं। वह भी उन्हें खूब ठगते हैं और इस प्रकार की उनकी ठग्गी और पाप की कमाई चार दिन तो खूब फूलती फलती दिखाई देती है परन्तु अन्त में-

"वही ढाक के तीन पात"

हाथ में ठूठा तक नहीं रहता। चोर चोरी कर ले जाते हैं। घर में आग लग जाती है। दिवाला निकल जाता है। रंडी भड़वे लूट लेते हैं। रोग लग जाते हैं और हकीम डाक्टर मनमानी हजामत बनाते हैं। सन्तान कुपात्र निकल कर ऐश उड़ाती और पग-पग पर जी जलाती है। इसीलिए तो वेदों में परमात्मा को इन ठगों को नाना तरह से ठगने वाला सबसे बड़ा ठग भी कहा है। भक्त लोग उसे ही प्रेमवश हो कर चित्तचोर भी कहते हैं।

महाजनो येन गतः स पंथाः

इस सम्बन्ध में आजकल के बड़े कहलाने और माने जाने वाले आदमियों को अधिक दोषी समझता हूं। क्योंकि छोटे आदमी तो उनकी नकल करने वाले होते हैं। इसलिए महाभारत में एक स्थान पर धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने यक्ष के एक प्रश्न का उत्तर दते हुए जो वास्तव में धर्मदेव आप ही थे और बगुले का स्वरूप धारण करके युधिष्ठिर की परीक्षा लेने आए थे (आप इसे सुन्दर रूप भी समझ सकते हैं) यह कहा है कि—"महाजनो येन गतः स पन्थाः"

अर्थात् बड़े आदमी जिस मार्ग पर जाते हैं, वही रास्ता पड़ जाता है। इस महावाक्य की सच्चाई हम अपने जीवन में आए दिन देखते रहते हैं। हुक्का, शराब, सिगरेट, अफीम, चरस आदि नशे करना, कपड़ों, बालों और रहन–सहन के अनेक, फैशन सारांश संसार में जितने भी पाप, पुण्य और शुभ कर्म फैले हुए हैं वे सब बड़े आदमियों की बदौलत हैं। यहां तक कि भोले–भाले सर्वसाधारण इन बड़े कहलाने वालों की बोलचाल ही नहीं, खांसने तक की भी नकल करने में अपनी बड़ाई और शान समझने लगते हैं।

इन बड़े आदमियों में से जो शुभ मार्ग दिखाने वाले होते हैं वही महापुरुष अथवा महाजन कहलाते हैं और देवताओं के समान पूजे जाते हैं। भगवान् दयानन्द, लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी जैसे अनेक महापुरुष तो इसी वर्तमान युग में हो चुके हैं, जो सर्वमान्य समझे जाते हैं। इसलिए

कइयों के साथ ही अनेकों बुराइयों के लिए भी बड़े आदमियों की जिम्मेवारी बहुत बढ़ जाती है और अपने आपको बड़ा बनाने की इच्छा रखने वाले सज्जनों को इस विषय में बड़ा ही सावधान रहना चाहिए कि वे छोटों और सर्वसाधारण के सामने कोई ऐसा आदर्श न रखें जो उनका सुधार और उद्धार करने की जगह उनका बिगाड़ करने और उन्हें गिराने वाला हो।

दो दृष्टान्त

एक मुसलमान डिप्टी कमिश्नर साहिब दौरे पर गए। उनके साथ ही एक हिन्दू तहसीलदार साहिब भी थे। दोनों घोड़ों पर सवार थे और अपने सरकारी काम–काज की बातें करते जा रहे थे। नौकर अरदली साईस और दूसरे अहिलकार, जो पैदल थे, पीछे रह गए थे। जब दिन छिपने लगा, तो डिप्टी कमिश्नर साहिब ने एक जगह कुएं के पास एक रमणीक स्थान देखकर अपना घोड़ा रोका। जीन में लगे हुए बटवे में से तहमद निकालकर, कोट पतलून उतार डाला और तहमद बांध कर वुजु किया। फिर नियमपूर्वक नजाम पढ़ी। हिन्दू तहसीलदार साहिब एक ओर चुपचाप खड़े सब कुछ देखते रहे। परन्तु इस घटना ने उनके मन में उथल–पुथल मचा दी। उन्होंने सोचा कि यह डिप्टी कमिश्नर, इतने बड़े अफसर, जिले भर के स्याह सुफेद के मालिक होकर भी यदि अपने धर्म–कर्म के ऐसे पक्के रह सकते हैं और दौरे पर रास्ता चलते हुए भी अपनी नमाज का इतना

ध्यान रखते हैं तो क्या मैं किसी धर्म कर्म को नहीं मानता? क्या मैं निरा नास्तिक हूं, जो अपने कृत्यों का कुछ भी ध्यान नहीं रखता। इन विचार के आते ही तहसीलदार साहब की भी काया पलट गई और वे भी उसी दिन से अपने संध्या–उपासना तथा नित्य नियम के बड़े पक्के हो गए।

एक ओर घटना हमारे अपने जिले मुजफ्फरगढ़ की है। वहां खान बहादुर शेख नूर मोहम्मद डिपटी–कमिश्नर होकर आए थे। उन्हें अपनी प्रजा और विशेषतः मुसलमान प्रजा और वह भी अपनी जाति बिरादरी के लोगों का बड़ा ख्याल रहता और यह स्वाभाविक भी है। परन्तु यदि इससे दूसरों के साथ किसी प्रकार अन्याय न हो। हमारे इलाके के नम्बरदार ने जिसका नाम रोशनगुल्लु प्रसिद्ध है, उन्हें अपने पुत्र के विवाह की शोभा बढ़ाने के लिए निमन्त्रण–पत्र भेजा। आपने सहर्ष स्वीकार कर लिया, परन्तु एक शर्त बड़ी कड़ी लगाई। वह यह कि यदि तुम अपने पुत्र का विवाह केवल ५ में करने को तैयार हो तो मुझे इसमें शामिल होने में कोई आपत्ति नहीं। बिचारे रोशनगुल्लु ने बड़े धूमधाम से विवाह करने की ठान रखी थी। वह नाच कराना चाहता था। नटों के तमाशे का प्रबन्ध भी सोच रखा था। बकरे, भेड़ आदि की कुर्बानी के बिना तो उनका कोई काम होता ही नहीं। परन्तु ५ में क्या हो सकता था? पर डिप्टी कमिश्नर साहिब को एक बार निमन्त्रण देकर बुलाना भी आवश्यक था। जिले भर में इस बात की धूम मच चुकी थी कि रोशन नम्बरदार के बेटे के

विवाह में डिप्टी कमिश्नर साहिब तशरीफ लायेंगे। घर भर में पंचायत की कि अब क्या किया जाये? आखिर समिति ने यह फैसला दिया कि इससे अच्छा और क्या हो सकता है कि अपयश भी न हो, धन भी बच जाये और इलाके में धूम–धाम और सुयश भी हो जाये। साधारण साग भाजी, दाल आदि से सब निमन्त्रित आदमियों का आदर सत्कार करके नम्बरदार रोशनगुल्लु ने अपने सुपुत्र का विवाह भी कर लिया और इलाके भर के सभी निवासियों को डिप्टी–कमिश्नर साहिब का दर्शन करवाकर वाह–वाह भी लूटी, क्योंकि ५ में कलियों कूर्मे और पुलाव आदि का भोजन तो दिया ही नहीं जा सकता था।

तत्पश्चात् रोशनगुल्लु की देखा–देखी इसी सादगी के साथ और कई विवाह हुए फिर तो एक प्रथा सी चल गई और अलीपुर तहसील में एक बड़ी पंचायत (अंजुमंन) होकर यह निश्चय हो गया कि बिरादरी का कोई भी साधारण गृहस्थी विवाह पर ५ से अधिक खर्च न करे और जो कोई बहुत ही बड़ा जमींदार हो वह अधिक से अधिक ३० खर्च कर सकता है।

परन्तु बड़े आदमी भी ऐसी सेवा तभी कर सकते हैं, जब उनके भाव परम शुद्ध हों और निःस्वार्थ सेवा का वे मर्म जानते हों। जो लोग निःस्वार्थ सेवा न कर सकते हों, वे निःस्वार्थ और निष्काम सेवा कों अपना आदर्श बनाकर धीरे–धीरे स्वार्थभाव को कम करते हुए सेवा करते रहें। उन्हें उस सेवा का फल अवश्य मिलेगा, चाहे वह उस रूप में न भी हो,

जिसमें वे स्वयं या स्वार्थमय संसार के अन्य स्त्री पुरुष चाहते हैं परन्तु वे अपने मन तथा आत्मा पर उस सेवा का प्रभाव देखकर आप ही चकित हो जायेंगे और उनसे वास्तविक मानसिक आनन्द प्राप्त करते हुए उस मार्ग पर आगे ही आगे बढ़ते चले जायेंगे।

(३)

अगले दिन श्री महात्मा जी ने अपने उपदेश का क्रम आरभ करने से पहले श्रोतागण को यह शुभ सूचना दी कि हमारे व्रतियों में से एक सज्जन ने जो अपने नगर के सम्माननीय व्यापारी हैं इस बात पर खेद प्रकट किया है कि उन्हें भी रात के बारह एक बजे दूध पीने की आदत है, जिससे नौकरों को बड़ा कष्ट पहुंचता है। वह आज से यह प्रण करते हैं कि अपनी इस बुरी आदत को छोड़ कर नौ–दसं बजे तक दूध पी लिया करेंगे, चाहे उन्हें भोजन के साथ ही क्यों न पीना पड़े।

यह सूचना देकर महात्मा जी ने फरमाया कि यदि मेरे किसी उपदेश के प्रभाव से कोई एक आदमी भी इस प्रकार अपनी बुरी आदत को छोड़ कर अपना सुधार कर लेता है तो मैं अपने उपदेश, नहीं–नहीं जीवन को सफल समझता हूं फिर आगे अपने मनोहर उपदेश का क्रम इस प्रकार आरम्भ किया :–

आदि सृष्टि के सेवक

वेदों में आता है कि जब आरम्भ में परमात्मा ने सृष्टि

को रचा तो सबसे पहले सेवक जो पैदा किये। जैसा कि हमारी दैनिक सन्ध्या के अघमर्षण मन्त्र में आता है और सृष्टि उत्पत्ति प्रकरण, पुरुष सूक्त आदि में अनेक मन्त्रों में भी है। वे निष्काम कर्म करने वाले थे। उनका नाम देवता रखा गया। सूर्य, चांद, तारे, अग्नि, वायु, जल आदि ये सभी वे हमारे निष्काम सेवक हैं, जिन्हें सबसे पहले परमात्मा ने बनाया। ये जिस निष्काम भाव से दिन–रात हमारी सेवा करते रहते हैं, वह आप सब पर भली–भांति प्रकट है।

उपमा (मिसाल) रूप से पृथ्वी को ही देखिये जो मां कहलाती है। क्यों? इसलिये कि जैसे मां अपनी सन्तान के मल–मूत्र को सहन करती, उसे खिलाती, पिलाती, सजाती और संवारती है और बिना उपकार जताये उसके लिये नाना प्रकार के कष्ट उठाती है। उसी प्रकार यह पृथ्वी माता भी हमारी सब प्रकार की सेवायें चुपचाप करती रहतीं है। इसीलिये शास्त्रों में आज्ञा दी गयी है :—

मातृदेवो भव

हे मनुष्य! तू अपनी माता का देवताओं के समान आदर सत्कार करने वाला बन। पिता तथा गुरु का वर्णन इससे पीछे किया गया है, जिससे प्रकट है कि सबसे पहले हमारी पूज्यास्पद माता है।

दूसरी श्रेणी के सेवक पैदा हुये वे जिनका हमारे साथ लेन–देन का नाता रखा गया। वे हैं वृक्ष आदि वनस्पति सृष्टि। वे इसे अपनी, आहर, अपान वायु (कार्बनिक ऐसिड

गैस वह गन्दी और विषैली हवा तो हम प्रतिपल अपने हर एक सांस के साथ बाहर निकालते हैं) के रूप में लेते हैं और हमारा आहार, प्राण वायु (आक्सीजन गैस वह शुद्ध वायु जो हम सांस द्वारा अपने शरीर में ले जाते हैं, और जो हमारे स्वास्थ्य के लिए परम आवश्यक है) के रूप में हमें देते हैं। हम खेती बाड़ी करके उनकी सेवा करते हैं तो वे भी हमें उसके बदले में नाना प्रकार के फूल फल, साग पात आदि देते हैं। यह सब सौदागरी और व्यापारियों के समान लेन–देन नहीं तो और क्या है?

तीसरी श्रेणी सृष्टि–परतन्त्र पैदा की। पशु, पक्षी, घोड़ा, बैल आदि सब इस सृष्टि में शामिल हैं। जिसका आहार अन्य सृजित पदार्थों पर निर्भर है, चाहे वह किसी भी प्रकार की सृष्टि से सम्बन्ध क्यों न रखते हों। हिंसक पशु दूसरे पशुओं को खाकर अपना पांलन–पोषण करते हैं। ढोर–डंगर, घोड़े, हाथी आदि घास–पात अन्न आदि खाते हैं। कीड़े, मकोड़े, पक्षी आदि भी इसी प्रकार या तो अन्न, मिट्टी आदि खाते हैं या दूसरे जीव जन्तुओं से अपनी उदरपूर्ति करते हैं। सारांश यह है कि उनका जीवन सर्वथा परतन्त्र है जो दूसरों के बिना स्थिर नहीं रह सकते। वह भी हमारी सेवा अवश्य करते हैं, परन्तु मजबूर होकर। घोड़ा, गधा आदि यह नहीं चाहते कि उन पर बोझ लादा जाए, परन्तु जब उन्हें लाद दिया जाता है, तो डण्डे के डर से वे चलने भी लगते हैं और इस प्रकार हमारी सेवा करके हमसे अपना पाते हैं। यही

हाल और भी परतन्त्र सृष्टि का समझो।

चौथे प्रकार की सृष्टि—में मनुष्य की बारी आती है और इसी प्रकार सृष्टिक्रम का अन्त हो गया है। मनुष्य को भगवान् ने अपनी सारी सृष्टि का स्वामी बना दिया है और इसीलिए इसे सर्वश्रेष्ठ सृष्टि अर्थात् उत्पन्न हुई वस्तुओं में सबसे उत्तम (अफजल उलमखलूकात) कहा गया है। यह अपना प्रत्येक काम करने में स्वतंत्र है। चाहे करे या न करे परन्तु उसका फल भोगनें में परतन्त्र है। यह उसके बस की बात नहीं कि वह जो काम करे उसका फल भी वैसा ही पाए जैसा कि वह चाहता है या जो भी काम करे वह सोलह आने सफल ही हो और वह उसमें कृतकार्य हो या न हो, या उसका फल उसकी आशा और इच्छा के विपरीत भी हो सकता है। इसलिए भगवान् कृष्ण ने गीता में वीर अर्जुन को यह उपदेश दिया है :—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलांतुर्भुर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।

अर्थात् तुझे केवल कर्म करने का ही अधिकार है, फल की इच्छा कदापि न करे। यह इच्छा ही तेरे कर्मफल प्राप्ति का कारण बन जाएगी, इसलिए तू कर्मफल पाने का हेतु भी मत बन। कारण, यह तुझे किसी प्रकार भी आवागमन के चक्कर से निकलने में सहायता नहीं दे सकता। परन्तु यह भी न होना चाहिए कि इससे कर्म न करने अर्थात् निकम्मा बन जाने की ओर ही तेरी रुचि बढ़ जाए। ऐसा भी कदापि

न होना चाहिए। अतः तुझे सदा निष्कामभाव से ही कर्म करते रहने का प्रयत्न करना चाहिए। यही कर्म तुझे कर्मों के बन्धन और उनके पाप–पुण्य रूपी फल से छुड़ा सकेंगे और कोई नहीं।

यह चौथी प्रकार की मनुष्य सृष्टि भी वास्तव में सेवा के लिये ही पैदा की हुई है। परन्तु इतनी उसे स्वतन्त्रता है कि चाहे निष्काम सेवा करता हुआ देवता बन जाये, चाहे सकाम उत्तम और धर्मयुक्त कर्म करके मनुष्य रहे। चाहे मन्द कर्म करके पशु और वनस्पति योनियों में चला जाये।

इससे आगे गीता के चौथे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी ने कहा :—

दैवमेवापरे यज्ञ योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावसरे यज्ञ यज्ञैनैवोपजुह्वति।। ४–२५

अर्थात् जिस यज्ञ द्वारा देवताओं का पूजन कियां जाता है। वही देव–यज्ञ हैं। कितने ही कर्मयोगी उस देव–या द्वारा ब्रह्मा की उपासना करते हैं। कई उस ब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ द्वारा हवन करते हैं। आत्मा के नामों में उसका नाम यज्ञ भी है जैसा कि उपनिषद् वाक्य है——"यज्ञो वाव पुरुषः"——पुरुष अर्थात् शरीर–पुरी में आया आत्मा ही यज्ञ है और ब्रह्म अग्नि को भी यज्ञ रूप माना गया है। शेष रह गया संसार, जिसे जग भी कहते हैं। यह जग शब्द यज्ञ का अपभ्रंश (बिगड़ा हुआ शब्द) है। इस प्रकार सृष्टि का एक–एक परमाणु यज्ञ समझना चाहिए, क्योंकि परमात्मा ने स्वयं इसे यज्ञ रूप में

ही पैदा किया है। जैसे कि भगवान् कृष्ण ने भी गीता में कहा है।

सृष्टि रचना में सब नमूने

उपरोक्त सृष्टि रचना में भगवान् ने हमारे सामने सभी नमूने पेश कर दिए। अब मनुष्य चाहे अपने आपको कैसा ही बना ले। चाहे तो निष्काम कार्य करके देवता बन जाए। चाहे बदले का काम करके वृक्ष और वनस्पति के समान अपनी मनुष्य योनि को बना ले। चाहे स्वार्थी बनकर पशुओं के समान परतन्त्र बन जाए। फिर आगे भी उसकी ऐसी गति रहेगी जैसे कि प्रसिद्ध लोकोक्ति है, "जैसी मति वैसी गति।" अब इसका फैसला आपके अपने ही हाथ है, आप जो भी चाहें बन जाएं।

एक प्रश्न

एक सज्जन ने प्रश्न किया है यदि नौकर रात के १२–१ बजे दूध न पिलाए और धर्मपत्नी पिलाया करे तो भी क्या पाप लगता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महात्मा जी ने कहा कि यह भावना बड़ी ऊंची है। पति सेवा स्त्री के लिए सबसे बड़े गौरव की बात है। यदि स्त्री प्रेम और सेवा के पवित्र भाव से ऐसा करती है, तब तो बड़ी उत्तम और श्रेष्ठ बात है किन्तु यदि वह पति से डरकर ऐसा करती है तो यह बात बहुत बुरी है। नौकर से यह काम लेने से भी बढ़कर बुरी। यह पुरुष की पशुता को प्रकट करती है जिससे उसकी स्त्री इतनी भय खाती है कि अपने आराम और सुख

का विचार तक भी उसके भय के मारे त्याग देती है। उस नर पशु को क्या अधिकार है कि अपने सुख और आराम के लिए अपनी स्त्री से ऐसी बड़ी और कठिन सेवा ले, जिससे उसका स्वास्थ्य बिगड़कर उसकी जान के भी लाले पड़ जायें। सच्चे प्रेम और सेवा भाव से पति की सेवा करना जहां स्त्री के लिए परम गौरव की बात है, वहां पति का भी तो यह धर्म है कि वह भी स्त्री के साथ वैसा ही प्रेम करे और उसकी कठिन से कठिन सेवा के लिए तैयार रहे तथा समय पड़ने पर कभी उससे जी न चुराए। जिस पति को अपनी पत्नी से सच्चा और हार्दिक प्रेम होगा वह अपनी अर्धांगिनी को कभी ऐसी कठिन तपस्या के लिए मजबूर करके अपने आपको उसके हार्दिक प्रेम का भाजन (अधिकारी) न बनाएगा। ऐसे स्वार्थी और अनाधिकारी पति की सेवा से स्त्री अपने सेवा धर्म को निभाती हुई भी अपने पति के स्वार्थ–रूप पाप की वृद्धि करते रहने के महापाप की भागी बन जाती है और अपने नारी धर्म से गिर जाती है।

नारी के अर्थ हैं 'नरक से बचाने वाली।' जो स्त्री अपने पति के दुर्गुणों की चेष्टा नहीं करती वह भी अपने पतिव्रत धर्म से गिर जाती है और सच्ची पतिव्रता देवी न रहकर मिट्टी का माधो बन जाती है। विचारपूर्वक देखा जाय, तो भगवती सीता जी ने बनवास और राम–रावण युद्ध में श्रीरामचन्द्र की गुप्त रूप से बहुत सहायता और रक्षा की है। वन में जब शूपर्णखां उन्हें मोहने आई तो उस वक्त सीता जी की मौजूदगी से ही एक प्रकार से

उनकी रक्षा हुई। नहीं तो संभव था कि राम उसके कपट जाल में फंस जाते और उसे दासी रूप में ही रख लेते। वनवास आज्ञा के समय स्वयं सीता जी ने भी श्री रामचन्द्र जी के इस प्रश्न का कि 'मैं तो वन में ब्रह्मचारी रूप से रहने के लिए जाता हूं, तुम वहां क्या करोगी?' यह उत्तर दिया था, कि मैं ही आपको अपना ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने में सहायता दूंगी और स्वयं ब्रह्मचारिणी बनकर रहूंगी।"

राम–रावण युद्ध में सहायता इस प्रकार समझी जा सकती है कि सीता जी के पतिव्रत धर्म और अन्य शुभ गुणों पर मोहित होकर ही रावण की रानी मन्दोदरी को उसके चरणों में अगाध श्रद्धा हो गई थी और वह सीता जी को लौटाकर राम से बैर विरोध त्याग देने की सीख दे देकर यथाशक्ति रावण के मन को कमजोर करती रहती थी। इसका प्रभाव यह पड़ा कि यद्यपि रांवण ने अपने कर्मों के भोग चक्र में फंसे हुए भगवान् राम का विरोध तो नहीं त्यागा, परन्तु उसका मन उतना दृढ़ नहीं रहा, जितना उस अवस्था में रहना सम्भव था। जब कि विभीषण उसे छोड़कर चला जाता और मन्दोदरी समय–समय पर उसे राम का विरोध त्याग देने के लिए न समझाती रहती। यह कमजोरी ही वास्तव में रावण की पराजय और राम की विजय का कारण हुई है और इसके पैदा करने में भगवती सीता ने अपने शुभ गुणों से, मूक रूप में ही सही, राम की कितनी सहायता की है, यह स्पष्ट ही है।

रजोगुणी सेवा का प्रभाव

हां! तो मैं यश के लिए सेवा का वर्णन कर रहा था। यह प्रसंग तो बीच में उपरोक्त प्रश्न से पैदा हो गया। यश अभिलाषी सेवक रजोगुणी होता है। उसको उनकी सेवा के फल रूप में जब तक उसका उत्साह बढ़ा रहता है। उसकी इच्छा सदैव यह करती है कि मेरा सेवा कार्य प्रकट होता रहे। जब वह प्रकट होगा तभी तो उसका यश फैलेगा और नाम होगा। नहीं तो किसी को क्या मालूम कि कौन क्या कर रहा है। जंगल में मोर नाचा, किसने देखा।

इसके विपरीत सतोगुणी पुरुष केवल अपने काम की सफलता चाहता है और इससे जो आन्तरिक आनन्द उसे गुप्त रूप से और अपने आप ही प्राप्त होता जाता है, उसे ही वह अपनी सेवा का पर्याप्त फल समझता है। यश अपयश की उसे कुछ परवाह नहीं होती। वह केवल अपने कार्य के परिणाम को ध्यान में रखता है। दुनिया चाहे उसे समझे या न समझे। माने या न माने, जाने या न जाने, वह चुपचाप अपना काम करता जाता है और उसके फल को परमपिता परमात्मा की इच्छा पर छोड़ देता है। कभी–कभी तो ऐसा भी होता है कि उसे यश की जगह संसार में अपयश ही मिलता है, और मनुष्य उसके सेवा कार्य की महत्ता को पीछे से मानते हैं, जैसा कि भगवान् दयानन्द, हजरत मसीह इत्यादि अनेक सुधारकों के समय में होता रहा है।

यश का अभिलाषी इस अभिलाषा में इतना मस्त हो

जाता है कि वह सेवा करता–करता परमात्मा को भी भुला देता है, परन्तु निष्काम सेवक सदैव यह समझता है कि मैं क्या कर सकता हूं? मुझमें शक्ति ही क्या है? जो कुछ भी हो रहा है परमपिता की कृपा से हो रहा है। वही मुझसे यह सेवा कार्य करा रहे हैं। वही इसके सब साधन जुटा रहे हैं। मैं तो केवल एक निमित्तमात्र हूं।

जो यश के लिए काम करता है, वह यदि कभी परमात्मा का नाम भी लेता है, तो केवल दिखावे के लिए। दुकानदारी के तौर पर, ज्यों–ज्यों उसका काम बढ़ता जाता है, उससे परमात्मा का ध्यान, सन्ध्या उपासना आदि भी छूटते जाते हैं। परमात्मा का नाम और ध्यान छूटने कैसे फिर उसकी सेवा भी सच्ची सेवा नहीं रहती। जब तक उससे लेने वाले कम थे, तब तक तो वह उनसे नम्रतापूर्वक बरतता था। जब उसका यश फैलं जाने से अधिक लोग उसकी सेवा से लाभ उठाने के लिए भागे–भागे आने लगे, तो उसमें कठोरता आ गई। वह उनकी अवहेलना करने लगा। टाल–मटोल के बहाने सोचने लगा। उसका सलूक भी वैसा नम्र न रहा। जिह्वा पर कड़वी कषैली बातें भी आने लगीं। क्रोध का भी प्रभाव फैला। कलई उतर गई। थककर कहने लगा, 'भाई क्यों तंग करते हो?" कभी–कभी अहंकार में फंसकर क्रोध से यह भी कह देता है 'जाओ, मैं नहीं करता।'

बस! तभी से उसका पतन। जो पहले गुप्त था, प्रकट रूप धारण कर लेता है। लोग उससे निराश होकर जहां तहां

उसकी निन्दा करने लगते हैं और धीरे–धीरे उसका अपयश फैलता जाता है। फिर वह भी दुःखी होकर लोगों को गालियां देने और उनकी कृतघ्नता का रोना जगह–जगह रोने लगता है।

रजोगुणी का लक्षण ही यह है कि वह पहले मीठा होता है और पीछे से कड़वा। देखने में सुन्दर और परिणाम में दुःखदायक। इसीलिए सुख शान्ति के अभिलाषियों को रजोगुणी सेवा की ओर ध्यान न देकर केवल सतोगुणी सेवा के लिए ही यत्नशील रहना चाहिए।

सेवा की मेवा

यजुर्वेद में आता है कि निष्काम सेवा से ३८४ चीजें मिलती हैं। अब इस थोड़े से समय में मैं क्या–क्या चीजें गिनवाऊं। अठारहवें अध्याय के पहले २६ मन्त्रों में इन सब पदार्थों का वर्णन किया गया है।

अग्निहोत्र

एक सज्जन ने परचा भेजकर पूछा कि घी फूंकने से क्या लाभ है? इसके उत्तर में आपने कहा–अग्निहोत्र करना वेद भगवान् की आज्ञा है।

जैसे अग्निहोत्र की अग्नि सबका उपकार करती है ऐसे ही तुम भी अपना जीवन बनाओ! अग्निहोत्र तो केवल एक नमूना आपके सामने पेश किया गया है और सब आवश्यकताओं को छोड़कर यदि विद्या प्रचार को ही लिया जाए तो यह स्कूल, कालिज, गुरुकुल, विद्यालय और पाठशालायें हमारी आवश्यकता को पूरी नहीं कर सकते। न हस्पताल और

शफाखाने, चिकित्सालय आदि हमारे स्वास्थ्य को ठीक रखकर हमें प्राणदान दे सकते हैं। ये ही दोनों चीजें मनुष्य जीवन के लिए परमावश्यक हैं। तम्बाकू आदि पीकर मल–मूत्र, थूक, खंखार त्याग कर और तो और सांस लेकर भी हम कितनी हवा खराब करते हैं। परन्तु क्या कभी हमने यह सोचा है कि इस हवा को जिसे हम सदैव इस प्रकार बिगाड़ते रहते हैं, शुद्ध करना भी हमारा धर्म है, तभी तो आए दिन तरह–तरह के रोग सताते रहते हैं। यह एक अलग प्रसंग है। इस पर यदि कभी अवसर मिला तो फिर विस्तारपूर्वक विचार करने का प्रयत्न करूंगा। जो लोग शब्द प्रमाण मानने वाले हैं, उनके लिए तो केवल यही कहना पर्याप्त है कि हमारे वेदादि सभी धर्म पुस्तकों की यह आज्ञा है और वह इस रूप से इसका समर्थन करते हैं। जो शब्द प्रमाण को न मानकर साइंस और विज्ञान की बात मानते हैं उन्हें भी इस संम्बन्ध में सन्तुष्ट किया जा सकता है। परन्तु जो दोनों में से एक को भी नहीं मानते उनके लिए मेरे पास क्या, किसी के पास भी कुछ उत्तर नहीं हो सकता। भगवान् ही उन्हें सुमति दे तो शायद वे समझें।

सकाम सेवा में एक और दुःख

सकाम सेवा करने वाले के प्रतिद्वन्द्वी (रकीब, मुकाबला करने वाले) भी सदा पैदा होते रहते हैं जो न केवल अपने सेवा भाव से ही उससे बाजी ले जाना चाहते हैं, परन्तु उसे बदनाम करके भी तरह–तरह से दुःख देते रहते हैं। परन्तु

निष्काम सेवा करने वाले का प्रतिद्वन्द्वी कोई नहीं बन सकता। यह तो घर फूंक तमाशा देखने का खेल है। स्वार्थी इस मार्ग पर कैसे चल सकते हैं। जैसा कि कबीर जी ने कहा है–

यह तो मार्ग प्रेम का, खाला का घर नांहि।
सीस हथेली पर रखे, वह या मारग आंहि।।

सच्ची सेवा करने वाला भूखे की भूख को अनुभव करता है। अतिथि सेवा को अपना परम धर्म समझता है और वेदों के शब्दों में जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूं सदैव यही प्रार्थना करता रहता है कि 'हे भगवान्! अतिथि सदैव मेरे द्वारे पर आये, परन्तु भिखारी न आए।" अतिथि केवल अपनी उसी समय की आवश्यकता को पूरा करने वाला होता है, परन्तु भिखारी के लोभ का तो ठिकाना ही नहीं होता। सारे जग की धन सम्पदा पाकर भी वह नही भर सकता। यह भिखारी और अतिथि में संबसे बड़ा भेद है।

लोकोचार सेवा
तीसरी सेवा

यह बड़ी भयानक होती है। परमात्मा, हमें इसके जाल से सदैव बचाए रखे। यह मजबूरी की सेवा है। दान देने का तो सेठ जी का नहीं जी करता, परन्तु नगर के चार प्रतिष्ठित भद्र पुरुष चन्दे की फहरिस्त लेकर आ गए हैं उनमें नाक भी रखनी है, कटाई नहीं जा सकती। अतः जलते कुढ़ते कुछ न कुछ देना ही पड़ता है, जिसका चिरकाल तक पछतावा रहता है।

भोजन के समय कोई पाहुना आ गया है। उसका आना भार मालूम होता है, पर लोक लाज के मारे भोजन खिलाना आवश्यक है।

मेम्बरी एक इज्जत और सम्मान की चीज समझी जाती है। कमेटी के मेम्बर सिटी फादर अर्थात् 'नगर पिता' कहलाते हैं। कोई भी मुझे माने या न माने, पर मेरे सिर पर यह पागलपन सवार हो जाता है कि मैं नगर पिता बन जाऊं।" इस सम्मान का पाना भी किसी पिछले पुण्य का फल अवश्य है, परन्तु इसका और ऐसी ही दूसरी लोकाचार सेवा का परिणाम तथा फल दुःख ही दुःख होता है, और दुःख के सिवा कुछ भी नहीं। इसमें जो लोग कुछ सुख समझते हैं, वह केवल उनका भ्रम मात्र ही है, जो शीघ्र ही ढोल की पोल के समान खुल जाता है। इस सम्बन्ध में पहले ही विस्तार पूर्वक कह चुका हूं। अतः हमें यह संमझ लेना चाहिए कि यह लोकाचार सेवा बड़ी ही भ्रष्ट सेवा है, जो बेर के बीच के समान कांट ही कांटे पैदा करती है।

चौथी सेवा

निष्काम सेवा है, जैसे माता पुत्र की अथवा पत्नी अपने पति की सेवा करती है। जो आदमी ऐसी सेवा करता है वही सच्ची और निष्काम सेवा करता है। इसलिए माता पूज्यास्पद मानी जाती है और धर्मपत्नी आदरणीय है और अर्धांगिनी कही गई है। अतः इन्हें देवियां कहा जाता है। एक माता और स्त्री ही क्यों? मैं तो यह कहता हूं कि सभी देवियों में यह गुण

स्वाभाविक रूप से है। इसके विकास के लिए बड़ी साधारण सी सच्ची और निष्काम सेवा की शिक्षा देने की आवश्यकता है। फिर उसे फलीभूत होते कुछ भी देर न लगेगी इनकी प्रकृति और स्वभाव में ही दयामय भगवान् ने दया की मात्रा बहुत अधिक रखी है, तभी ये अपने धर्म के लिए त्याग भी सहज में ही कर सकती हैं।

देखो! हर एक कन्या कैसे साहस और धैर्य से अपने माता–पिता के घर का त्याग करके, शेष जीवन भर के लिए अपने आपको अपने पति के समर्पण कर देती है और उसके कुल के नर–नारियों को अपने पितृ कुल के सम्बन्धियों से भी अधिक मानने लगती है। कितने पुरुष हैं, जो अपने ससुराल के सम्बन्धियों को वैसा ही पूज्य, आदरणीय और प्रेमपात्र समझते हैं, जैसा कि अपने सम्बन्धियों को? रोगियों की टहल सेवा जैसी एक स्त्री कर सकती है, पुरुष से कदापि नहीं हो सकती। इसीलिए हस्पतालों में स्त्रियां ही अधिकतर नर्स (रोगी की सेविका) होती हैं। हमारी आर्य बहनें यह काम ईसाई नर्सों से भी अधिक उत्तमता से कर सकती हैं। क्योंकि स्वभाव से ही अहिंसा–प्रिय होने और सात्विक आहार खाते रहने से उनके हृदयों में दया भाव बड़ा प्रबल रहता है। रोगी–सेवा की साधारण–सी शिक्षा पाकर वह स्वाभाविक रूप से सर्वोत्तम रोगी–सेविका सिद्ध हो सकती हैं।

अटूट और बेवास्ता सम्बन्ध

माता–पिता–गुरु और स्त्री या पति इन चारों के सम्बन्ध

अटूट और बिना किसी वास्ते के हैं। बाकी सभी सम्बन्ध वास्ते से होते हैं। जैसे पत्नी के पिता को श्वसुर कहा जाता है और उसके भाइयों को चाचा, ताऊ, मामा, साला आदि। इसी प्रकार और भी सब सम्बन्ध समझे जायें। इन चारों में से माता और पिता का सम्बन्ध जन्म से है और गुरु तथा स्त्री या पति का धर्म से। इसलिए धर्म की पवित्रता और महानता को दृष्टि में रखकर इन धर्म सूत्र से जकड़ने वाले रिश्तों को जन्म के रिश्तों से भी पवित्र और माननीय माना गया है। इसीलिए पुरुष या स्त्री जो दूसरा विवाह कर लेते हैं, उसे धर्म की दृष्टि से वह महानता नहीं दी जा सकती, जो पहले विवाह की होती है। वह तो स्वार्थ सिद्धि के सिवा और कुछ नहीं। पुरुषों का स्वार्थ स्त्रियों को भी धीरे–धीरे स्वार्थी बनाता जा रहा है और उनकी दृष्टि में पुरुषों के सम्मान तथा गौरव को गिराता जा रहा है। इसलिए जो पुरुष अपंने पुरुषत्व की महानता पर गर्व करते हैं और उसे स्थिर रखना चाहते हैं उन्हें सावधान रहना चाहिए और किसी प्रकार भी अपनी स्त्री को यह अवसर न देना चाहिए कि वह उन्हें स्वार्थी और लोलुप समझे। यह उस समय तक होना असंभव है जब तक हम भगवान् राम के समान अपनें स्त्री–व्रत–धर्म की महानता को न समझें और ऋतुगामी रहते हुए निष्काम रूप से स्त्रीवन को निभाने का पूरा–पूरा प्रयत्न न करें। आजकल के पुरुषों में इस बात की बहुत बड़ी कमी है और उनकी इस खेदजनक कमी ने ही स्त्रियों में वे सब अवगुण पैदा कर दिये

हैं। जिनसे पुरुष प्रायः दुःखी रहते हैं। परन्तु शोक तो यह है कि स्त्रियों के दुर्गुणों का रोना रो–रोकर उनकी दिन–रात निंदा करते रहने वाले सज्जन अपने अवगुणों पर कभी भूलकर भी दृष्टि डालना उचित नहीं समझते जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—**पर उपदेश कुशल बहुतेरे।**

महापुरुषों की गति

यह तो मैंने अपने जैसे सर्वसाधारण लोगों का हाल कहा है। महापुरुष की गति इनसे अलग होती है। गुरु महाराज का वचन है—

ना कोई अपना ना कोई बिगाना।
सकल संग हम को बन आई।।

हमारे शास्त्रों में भी लिखा है !

उदारचरितांनां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।

अथात् उदारचरित पुरुषों का कुटुम्ब अपने दस बीस सम्बन्धियों और इष्ट मित्रों तक ही सीमित नहीं होता। वह तो संसार भर को ही अपना मित्र समझते हैं और यह उनका महापुरुषपन होता है। जैसे परमपिता परमात्मा का सम्बन्ध हमसे पूर्ण है, वैसे ही माता–पिता गुरु, और पति पत्नी का सम्बन्ध भी पूर्ण ही होता है। जहां ऐसे पूर्ण सम्बन्ध न हों वहां निष्काम सेवा हो ही नहीं सकती। इसीलिए वेद भगवान् की आज्ञा है कि—**स्वयं यजस्व स्वयं जुषुस्व।**

अर्थात् बिना किसी वास्ते के अपने आपको सेवा और

सत्संग से बढ़ा! इससे पहले कहा है कि—

स्वयं वार्जिस्तन्त्र कल्पयस्व (यजु० २३/१५)

अर्थत् तेरा शरीर अपना है इसे अपने शरीर की कमाई से बढ़ा! और सामर्थ्यवान् कर।

हमारा अपना क्या है?

हमें इस वेद वाक्य की गहराइयों और बारीकियों पर विचार करना है। शरीर को ही केवल हमारा 'अपना' क्यों कहा गया है? किसी और पदार्थ को जिसे हम अपनी सम्पत्ति समझ रहे हैं, हमारा अपना क्यों नहीं कहा?

अब आप स्वयं विचार करके देखिये! क्या घरबार महल गाड़ी, हाथी, घोड़े, गाय, बैल, भाई, बहन, स्त्री, पुत्र, माता-पिता, जिन्हें हम अपना समझ रहे हैं, वास्तव में हमारे हैं? नहीं कदापि नहीं। उन्हें अपना समझना हमारी बहुत बड़ी भूल है। इसीलिए नीतिकार ने कहा है :-

घनानि भूमी, पश्वश्च गोष्ठे, भार्या गृहद्वारि, जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां, परलोकमार्गे, कर्मानुगो गच्छति जीव एक।।

(भर्तृ. वैराग्य शतक ३५)

अर्थात् सब माल दौलत, सोना-चांदी, अन्न आदि धरती में ही दबा रह जाता है। पिछले जमाने में सेफ और बैंक आदि न होने के कारण लोग अपनी बहुमूल्य सम्पत्ति को धरती में दबाकर सुरक्षित समझा करते थे। इसीलिए यह कहा गया है। आजकल आप धरती के स्थान पर सेफ या बैंक आदि समझ सकते हैं। पशु-हाथी, घोड़ा, गाय, बैल,

भैंस, बकरी आदि उपयोगी सभी पशु जिन्हें मनुष्य अपना समझता है, सब तबेलों और घुड़शालों आदि में बन्धे ही रह जाते हैं। स्त्री बेचारी भी घर के द्वार से आगे नहीं जाती, वहां ही रोती पीटती रह जाती है। यद्यपि हमारे पंजाब में स्त्रियां भी रोती पीटती और सियापा करती प्रायः श्मशान तक जाती हैं परन्तु यह प्रथा अच्छी और शास्त्रानुसार नहीं। इसलिए निन्दनीय और त्याज्य है। देशभर में शायद पंजाब के हिन्दुओं के सिवाय और कहीं भी स्त्रियां इस प्रकार रास्ते रोती–पीटती मुर्दे की अर्थी के पीछे–पीछे नहीं जाती और न श्मशान में बैठकर सियापा ही करती हैं। यह मूर्खता पंजाब में ही देखी जाती है। इसे जितना शीघ्र छोड़ दिया जाए उतना ही हमारे लिए गौरव और कल्याण की बात होगी। अस्तु!

आगे कहा है कि सब इष्ट मित्र सगे सम्बन्धी श्मशान तक जाते हैं। वह भी इससें आगे नहीं जा सकते वहां ही शरीर को चिता पर रखकर गप्प–शप्प मारने लगते हैं और बहुत से तो मृतक के दुःख की कुछ भी परवाह न करके श्मशान में ही अपनी दुनियादारी की सब प्रकार की बातचीत आरम्भ कर देते हैं। कई–कई निर्बोध तो शोकाकुल गृहस्थियों के शोक को भूलकर वहीं किसी दूसरे को, जिनके घर कोई शुभ कार्य हुआ हो बधाई तक भी श्मशान में ही देकर छुट्टी पा लेते हैं। ऐसे लोगों का तो कहना ही क्या है। उनका तो सभी कार्य दिखावे का होता है। अतः उन पर विश्वास करना जान बूझकर धोखा खाने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता।

अन्त में नीतिकार ने कहा है कि और तो और यह शरीर भी तेरा अपना नहीं क्योंकि यह चिता तक ही तेरा कहलाता है। यद्यपि उस समय जीवात्मा शरीर को छोड़कर परलोक को सिधार चुका होता है। परन्तु उस शरीर का मृतक के साथ विशेष सम्बन्ध अन्तकाल तक रहने के कारण, वह शरीर जो शव के सिवा और कुछ भी नहीं रहता, उस परलोक गए हुए जीवात्मा का ही कहलाता है। सर्वथा उसी प्रकार जैसे एक फटा पुराना उतरा हुआ निरर्थक कपड़ा, जो अब स्वामी के किसी भी काम का नहीं, जब तक उस कपड़े का अस्तित्व (नाभ निशान) कुछ शेष है, तब तक उस स्वामी का ही कहलाया करता है। जीवात्मा के साथ तो उसके किए हुए शुभ व अशुभ कर्मों का फल ही जाता है, जिसे इस लोक में कर्म का नाम दिया गया है, परन्तु हमें कर्म और अकर्म दोनों को ही सम्मिलित समझना चाहिए, जिनके परिणामस्वरूप जीव आत्मा को एक शरीर छोड़ने के पीछे दूसरा शरीर मिलता है। यदि उसके किए हुए कर्म अर्थात् धर्म सम्बन्धी कर्म अधिक हैं तो उसे निःसन्देह पिछले शरीर की अपेक्षा अच्छा शरीर मिलेगा और यदि बुरे कर्म अर्थात् अधर्मयुक्त अथवा धर्म से हीन कर्म अधिक हैं, तो जो शरीर मिलेगा वह पहले शरीर से बुरा ही होगा, अच्छा कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि चाहे हम अपनी चालाकी और होशियारी से संसार में हर किसी को धोखा देने में सफल हो जायें और बगला-भक्त होते हुए भी सच्चे परमार्थी-भक्त के समान सम्मान और

पूजा संसार में प्राप्त करते रहे हों, परन्तु हम न्यायकारी परमात्मा को धोखा देने में कभी भी कामयाब नहीं हो सकते।

शरीर ही जीवात्मा का अपना है

'यद्यपि नीतिकार का यह वचन देखने में उपरोक्त वेद वाक्य के सर्वथा विरूद्ध जान पड़ता है। क्योंकि इस में तो शरीर को ही "हमारा अपना" बताया गया है और नीतिकार कवि ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह शरीर भी हमारा अपना नहीं, परन्तु गहरी दृष्टि से देखने से दोनों वाक्यों में कुछ बहुत अन्तर नहीं दिखाई देगा। कारण जब तक जीव शरीर पर अपना कब्जा रखता है, तब तक वह उसी का रहता है, परन्तु जब उसने उसे त्याग दिया, तब चाहे उसका कुछ भी क्यों न होता रहे, आत्मा को उससे कुछ भी लेना देना अथवा शोक हर्ष नहीं होता। इसलिए यह मानना ही पड़ेगा कि जब तक शरीर में जीव है, तब तक तो निस्सन्देहं वह शरीर आत्मा का अपना है, किसी और का कदापि नहीं हो सकता। शेष जो उस शरीर पर किसी प्रकार अपना अधिकार जताते हैं, उनका सम्बन्ध केवल शरीर से ही रहता है, आत्मा से नहीं, जैसे कि मेरी माता या और कोई सम्बन्धी जो मेरी दूसरी सम्पत्तियों पर अपनां अधिकार मानने के दावेदार होते हैं, वे मेरे शरीर को अपना नहीं कह सकते। चाहे उसे माता ने ही जन्म दिया हो, फिर भी वह उसका नहीं। मेरी आत्मा का ही कहा और माना जाएगा।

इसीलिए आत्मा को सम्बोधन करके यह कहा गया है,

चाहे तू अज्ञान और अविद्या में फंसा हुआ अपने आपको और अपने शरीर को एक ही क्यों न समझता हो। जिस दिन तेरी यह भूल दूर होकर तू अपने आपको अपने शरीर से सर्वथा अलग समझ लेगा उसी दिन तू जनक आदि के समान जीवनमुक्त होकर शरीर त्यागने पर मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी बन जाएगा। इसके सिवा मुक्ति का और कोई मार्ग ही नहीं।

इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो गया कि हमारा शरीर ही उपरोक्त वेदवाक्य के अनुसार 'हमारा अपना, है, और शेष सब सम्बन्ध और सम्पत्ति हमारे शरीर की अवश्य है, परन्तु हमारी आत्मा की नहीं। जिनसे यह शरीर पैदा हुआ है, या जिन्हें इस शरीर ने पैदा किया है, चाहे वे निर्जीव हों या सजीव। वे सभी इस शरीर के हैं, आत्मा के नहीं, क्योंकि आत्मा शरीर से ऐसा ही अलग है, जैसा एक कपड़े से उसकां पहनने वाला शरीर या एक मकान से उसमें रहने वाला मनुष्य। इसीलिए शरीर के सम्बन्ध से आत्मा को शरीर अर्थात् शरीर में रहने वाला या शरीर का स्वामी कहा जाता है, शरीर कदापि नहीं कह सकते।

इसीलिए वेद भगवान् ने इस आत्मा को सम्बोधित धन करके कहा कि—**स्वयं वार्जिस्तन्वं कल्पयस्व**

हे आत्मा! यह शरीर तेरा है, तू इस शरीर की कमाई को आप किसी अपने ही परिश्रम से बढ़ा।

कमाई कैसे बढ़ाई जाती है?

अब यह विचार कीजिए कमाई सबसे अधिकरूप में

कैसे बढ़ाई जाती है। इसके चार तरीके हैं। कवि का यह दोहा सर्वमान्य तथा प्रसिद्ध है–

उत्तम खेती, मध्यम व्यापार।
निखद चाकरी, भीख नादार।।

इसमें जो तत्व कहा गया है, उसकी सत्यता में किसी को भी कुछ सन्देह नहीं हो सकता। वास्तव में शरीर की कमाई इन्हीं चार साधनों से बढ़ सकती है। इनके सिवाय कोई और पांचवां उपाय नहीं हो सकता। जो भी बतावें वह किसी न किसी तरह इन चारों के अन्तर्गत आ जावेगा।

इनमें से भीख को सबसे नीचा दर्जा दिया गया है और निन्दनीय माना गया है। कारण, इससे मनुष्य मनुष्य नहीं रहता। पशु से भी अधिक दीन हीन और निर्लज्ज हो जाता है। उसकी अपनी मर्यादा कुछ नहीं रहती। धुतकार दो, गाली दे दो, मार भी दो तो भिखारी को दबकर चुप ही रह जाना पड़ता है। उसमें इतना आत्म–अभिमान और साहस होता ही नहीं कि वह मर्दों की तरह सिर ऊंचा करके कुछ कह सके, या जो कुछ उसे कहा जाए उसका प्रतिवाद कर सके। इसलिए कहा है कि—

मांगन गए सो मर रहे, मरे सो मांगन जायें।

परन्तु निष्काम धर्म भीख जैसे निन्दनीय कर्म को भी पुनीत और पवित्र बना देता है। लोग अपने स्वार्थ का जितना भी त्याग कर, जितने भी निष्काम भाव से किसी शुभ कार्य के लिए चन्दा मांगने निकल खड़े होते हैं, जो भीख के सिवा

और कुछ भी नहीं, वे उतना ही देश और जाति की दृष्टि में आदर और सत्कार के अधिकारी होते हैं और लोग उन्हें भीख देने में भी अपना गौरव समझते हैं और इस प्रकार उनकी कुछ सेवा कर सकने को अपना 'अहोभाग्य' मानते हैं। इसीलिए सच्चे साधु संन्यासी और ब्रह्मचारी आदि को भीख देना भीख नहीं कहलाता, अतिथि पूजा और साधु सेवा बन जाता है और ऐसे दे देने अर्थात् दान के सम्बन्ध में उपरोक्त दोहे का अगला अर्धभाग कहा गया है, जो इस प्रकार है—

सबसे पहले वे मरे, जो होत में करते नांह।

इसलिए हमें दान देते समय अधिकारी और अनाधिकारी का विचार अवश्य कर लेना चाहिए, क्योंकि शास्त्रों में अनाधिकारी को दिए हुए दान को पत्थर की नींव के समान कहा है, जिसमें बैठकर दाब देने और लेने वाला दोनों ही डूब जाते हैं। गीता में भगवान् कृष्णचन्द्र जी महाराज ने भी अनाधिकारी को दान देने की निंदा करते हुए उसे तमोगुणी बताया है। देखो भगवान् कहते हैं—

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।। १७–२२

अर्थात् देश और काल का कुछ भी ध्यान न रखकर अपात्र को, अवज्ञा और तिरस्कार करके जो दान दिया जाता है; वह तामसी अथवा तमोगुणी दान होता है। इसी अध्याय में इसके पहले सतोगुणी दान का वर्णन करते हुए भगवान् ने

उसके लक्ष्य ये बतलाए कि देश और काल के अनुसार जो दान किसी ऐसे पात्र (अधिकारी) को दिया जाता है, जिससे कोई उपकार न पाया हो या न पाने की आशा हो, वही दान सतोगुणी दान है। परन्तु यदि किसी पूर्ण अधिकारी को, देश और काल का ध्यान रखकर भी इस भाव से दान दिया जाए कि इसमें हमें अमुक लाभ होगा या हुआ है, तो वह दान सतोगुणी न रहकर, रजोगुणी हो जाता है। यदि जल कुढ़कर विवशता से दुःख मानकर या अनादर और तिरस्कार करके, चाहे किसी अधिकारी को भी क्यों न दान दिया जाए, वह तमोगुणी ही होता है। योग्य और सच्चे अधिकारी तो ऐसा दान ग्रहण ही नहीं करते और छोड़ कर चले जाते हैं क्योंकि यह उन के लिए भी हानिकारक और पतित करने वाला होता है। सारांश यह कि सतोगुणी दान केवल वही होता है जो पूर्ण निष्कामरूप से, अपना धर्म और कर्तव्य समझकर दिया और लिया जाए, इसके अतिरिक्त और कोई नहीं। अब दूसरा साधन है चाकरी, जिसे निखद कहा है। यह केवल इसलिए कि इसमें मनुष्य दूसरे के अधीन होता है। स्वतंत्र और स्वाधीन नहीं रह सकता। इसीलिए शूद्र का दर्जा चारों वर्णों में सबसे नीचे माना गया है। नौकर सर्वथा अपने स्वामी के अधीन होता है। यहां तक कि वह अपने स्वार्थ और पापी पेट के कठिन बन्धनों में फंसा हुआ प्रायः धर्म अधर्म, पाप–पुण्य उचित–अनुचित की भी कुछ परवाह नहीं करता। अपनी नौकरी जाने के भय से, नाना प्रकार के अपमान सहता हुआ

भी अपने स्वामी की सभी आज्ञायें पालन करता रहता है, चाहे वह उसकी आत्मा देश, जाति और तो और परमात्मा के भी विरूद्ध क्यों न हों, इसीलिए परम भक्त तुलसीदास जी कह गए हैं—पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।

ऐसे नीच और पराधीन कर्म से यदि धन कुछ बढ़ता भी है, तो उसके द्वारा अपनी आत्मा का जो हनन होता है, वह हानि उस लाभ से हजारों क्या लाखों गुणा अधिक बढ़ जाती है। इसीलिए तो चाकरी को निखद कहा है। वास्तव में तो नौकर एक भिखारी से भी गया बीता है। भिखारी को यह अधिकार है कि वह जहां से चाहे भीख ले और जहां से न चाहे न ले, परन्तु नौकर को यह अधिकार नहीं कि वह अपने स्वामी की जो आज्ञा चाहे पालन करे और जो न चाहे पालन न करे। जिस दिन भी वह किसी आज्ञा का पालन करने से इन्कार कर देगा, उसी दिन उसकी सारी पिछली सेवाओं पर पानी फिर जाएगा। चाहे वे कैसी भी अच्छी और स्वामी के लिए लाभकारी क्यों न हों। उसे नौकरी से जवाब मिल जाएगा और यही नौकरी से अलग कर दिए जाने का भय नौकर की आत्मा को इतना कुचल देता है कि वह अपने स्वामी की किसी अनुचित से अनुचित और पापपूर्ण आज्ञा के पालन से इन्कार करने का भी साहस कभी नहीं कर सकता। वह मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ शरीर पाकर भी एक पशु के समान, वरन् उससे भी नीच बन जाता है। कारण, पशु तो अपनी भलाई, बुराई का कुछ ज्ञान नहीं रखता परन्तु यह

सब ज्ञान रखता हुआ भी स्वार्थ वश उसका सत्यानाश करके अपने स्वतंत्र मनुष्यत्व को खो देता है।

तीसरा साधन कहा है वाणिज्य या व्यापार जिसे मध्यम माना है, क्योंकि इसमें भी अधर्म का बड़ा ध्यान रखना पड़ता है। पग–पग पर घाटे–टोटे का भय खाए जाता है, जिससे विवश होकर मनुष्य प्रायः धर्म मार्ग से गिर जाता है। इसीलिए व्यापारी आजकल लोभ के लिए बदनाम हैं। गेहूं भरो तो वह बढ़ती तो कदापि नहीं, छीजती दिनों–दिन रहती है। भाव निस्सन्देह गिरता और चढ़ता रहता है। इससे व्यापारी का धन बढ़ता भी है और दिवाला भी बहुतों का निकल जाता है। इस दिवाले से बचने के लिए ही उसे प्रायः धर्म की तिलांजलि देकर खरे गेहुओं में घटिया गेहूं जौ या और कुछ मिलाकर उस कमी को पूरा करना पड़ता है और वह उसका व्यापार–धर्म का व्यापार नहीं रहता, अधर्म का व्यापार हो जाता हैं, यह हाल तो उन व्यापारियों का है, जो धर्मात्मा कहलाते और माने जाते हैं। दूसरे जो लेन–देन के तोल में काट–छांट करते हैं और अनेक रूप से छल करके व्यापार को बदनाम कर रहे हैं, उनका तो कहना ही क्या है। इसीलिए व्यापार को भी सर्वश्रेष्ठ दर्जा नहीं दिया गया और मध्यम बताया गया है।

व्यापार में भी धन बढ़ाने का एक दूसरा साधन और है। वह यह है कि अपने धन को जरूरतमंद लोगों में बांट दिया जाए जैसा कि प्रायः ग्रामीण व्यापारी किसानों को बीज के

दाने दे दिया करते हैं और फिर फसल पर उनसे अपने लाभ सहित सवाया ड्योढ़ा उगाह लेते हैं। यदि यह काम धर्म और न्याय पूर्वक किया जाए तो इसमें लाभ है, घाटा नहीं। इस प्रकार बांटा हुआ अन्न, अन्न नहीं रहता, बल बन जाता है। उससे लाखों का बल बढ़कर देश और जाति का कल्याण होता है।

धन बढ़ाने का एक और साधन भी है, वह है खेती, जिसे चौथा और सबसे उत्तम तथा श्रेष्ठ साधन कहा गया है, वास्तव में है भी ऐसी ही। निस्सन्देह आजकल खेती क्यारी करने वाले किसान की हालत बहुत बुरी है। उनको साल भर तक लहू पसीना एक करके कठिन से कठिन मेहनत मजदूरी करने पर भी पेट भर रोटी नसीब नहीं होती और न तन ढांपने को पर्याप्त कपड़ा ही मिलता है। दूसरे प्राकृतिक सुखों को तो बात ही क्या। परन्तु इसका बहुत बड़ा कारण तो किसान की अपनी अज्ञानता है, जिससे वह एक आसान शिकार बन रहा है और सब स्वार्थी लोग उसे मन माने लूट रहे हैं। वैसे धरती माता और परमपिता परमात्मा की उस पर जो अपार कृपा है, उसका तो कोई अन्त ही नहीं। एक दाना बोकर अपने परिश्रम के फलरूप में परमात्मा के दरबार में सौ–सौ क्या हजार–हजार दाने पाता है। यदि फिर भी अपने भोलेपन या कायरपने से वह छली और कपटी स्वार्थी लोगों या अन्यायी और अत्याचारी चोरों और डाकुओं का आसान शिकार बन जाता है, तो यह उसका अपना ही दोष है। नहीं

तो धन तो उसका इतना बढ़ता है कि एक वर्ष तो क्या, यदि दो चार वर्ष भी भगवान् के कोप से जल न बरसे तो भी उसे खाने पहनने की कमी न हो। परन्तु उसका तो सुकाल में ही जब बुरा हाल रहता है, तो अकाल का तो कहना ही क्या है। हमारे किसानों की यह दशा क्यों है और वह कैसे सुधर सकती है। यह एक अलग विषय हो जाने के कारण मैं इसे यहीं छोड़ता हूं।

इससे सिद्ध हुआ कि कमाई बढ़ाने का सबसे उत्तम साधन यही है, जो किसान बरतता है अर्थात् वह धरती माता की सेवा करके उससे जो अन्न उपजाता है, फिर उसकी भेंट कर देता है और फिर एक–एक दाने सौ–सौ क्या हजार–दाने ले लेता है। इसलिए वेद भगवान् जब मनुष्यमात्र को अपनी कमाई बढ़ाने का आदेश करते हैं तो उनका संकेत इसी साधन की ओर है। इंसलिए कहा है कि तू अपने शरीर की कमाई को शरीर द्वारा ही बढ़ा। शरीर द्वारा कोई कमाई कैसे बढ़ सकती है? केवल सेवा करने से, लूट मार, छल कपट, चातुरी से नहीं। क्योंकि वह कमाई नहीं, अधर्म है, अन्याय है, इसलिए इसे कर्म नहीं विकर्म और कुकर्म कहा जाता है।

परमात्मा अर्पण कर्म

सेवा कितने प्रकार की होती है? यह मैं पहले बतला चुका हूं। सबसे श्रेष्ठ सेवा वह है, जो परमपिता परमात्मा के अर्पण की जाती है, और जिसका फल हम परमात्मा से भी

कुछ नहीं चाहते। केवल अपना कर्तव्य और धर्म समझकर करते हैं और जो भी दुःख सुख परमात्मा के दरबार से हमें मिलता है उसे ही सन्तोष और हर्ष से सिर झुका कर ले लेते हैं और उसमें ही अपना कल्याण समझते हैं। यही सच्ची और निष्काम सेवा है। अतः जब हम अपनी कमाई इस प्रकार प्रभु अर्पण करके उसकी दीन दुःखी सृष्टि की सेवा में लगा देते हैं तो वह खूब फलती और फूलती है, क्योंकि परमात्मा के भण्डार तो अनन्त और असीम हैं और देने के लिए उसके हाथ भी असंख्य हैं। न जाने वह कब और किस हाथ से कहां दिला दे। इसलिए एक कवि ने कहा है :—

फैलाए क्या कोई मेरे परवरदिगार हाथ।
बन्दे का एक हाथ है तेरे हजार हाथ।।

लोग अभिमान और अहंकार में फंसे हुए अपनी कमाई को अपनी समझते हैं। परमात्मा की देन और बख्शीश नहीं मानते। इसीलिए उसे संभाल–संभालकर रखते हैं और परमात्मा की राह पर देश तथा जाति के कल्याण और दीन दुखियों का दुःख दूर करने के लिए खर्च करना नहीं चाहते। इसीलिए सब कुछ होते हुए भी नाना प्रकार के दुःखों में फंसे रहते और कष्ट पाते रहते हैं। वे यह नहीं समझते कि यह कमाई भी उनके इस जन्म के समान पूर्व जन्म–जन्मान्तर के शुभ कर्मों का फल है। नहीं कहा जा सकता, कब कौन सा पुण्य या पाप फल दे जाता है। निःसन्देह हर एक मनुष्य अपनी प्रारब्ध आप ही बनाता है। परन्तु यह उसके हाथ में

नहीं अपने कर्म का फल भी वह जब चाहे हाथ में ले। वह तो फलदाता परमामा के ही हाथ में है। उस पर किसी का कोई तकाजा नहीं चलता। देर सवेर फल मिलता अवश्य है, उससे कोई बच नहीं सकता। इसलिए शास्त्रों में कहा है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

वह दयालु कृपालु और बख्शनहार भी अवश्य है। परन्तु उसके प्रति जो अवज्ञायें और अवहेलनायें हम अपने अज्ञान और अविद्या के कारण करते हैं वह सर्वज्ञ सर्व अन्तर्यामी उन्हें ही कृपा करके क्षमा करता रहता है, परन्तु जो पाप हम जान बूझकर, अपनी दुर्बुद्धि और धृष्टता से करते हैं, या दूसरे जीवों को हम दुःख देते हैं और उन पर अत्याचार ढाते रहते हैं उनका दण्ड तो हमें अवश्य भोगना ही पड़ेगा। उससे हम किसी प्रकार नहीं बच सकते।

शुभ कर्मों का फल अवश्य मिलेगा

परन्तु यह विचार हमें भूलकर भी अपने मन में न लाना चाहिए कि हमारे शुभ कर्मों का फल, चाहे वह निष्काम भाव, प्रभुअर्पणबुद्धि से ही क्यों न किए जायें, न मिलेगा। वह अवश्यमेव मिलेगा। सौ, हजार गुणा होकर नहीं, असंख्य गुणा होकर मिलेगा। वास्तव में मुक्ति और मोक्ष, शुभ कर्मों में रुचि, प्रभुभक्ति, प्रभुपद–प्रेम ये सब अमूल्य और दुर्लभ पदार्थ ऐसे ही निष्काम और प्रभु अर्पण सत्कार्यों का ही तो फल हैं, नहीं तो इन्हें और किन शुभ कर्मों का फल समझा जाए। दूसरे सकाम कर्मों का फल तो सीमित सुख है। चाहे

वह किसी जन्म में, किसी कल्पित या अकल्पित स्वर्गलोक में मिलें, चाहे यहीं। इस संसार में और इस जन्म में ही मिल जाएं। कारण, किसी सीमित कर्म का असीम फल तो कभी मिल ही नहीं सकता। जितना गुड़ डालोगे उतना ही मीठा होगा। जैसा भी शुभ कर्म होगा, उसी के परिणाम से उसका फलरूप सुख भी थोड़ा या बहुत होगा।

अतएव हमें यही समझना चाहिए कि प्रभु के नाम पर दीन दुखियों और अधिकारियों को कुछ देना संसार में सबसे अधिक लाभदायक और सच्चा सौदा है। जिसकी बराबरी दुनियां का कोई भी व्यापार कभी नहीं कर सकता। प्रभु अर्पण कर्म करने की इस अपूर्व खेती के समान दूसरी कोई भी खेती फल–फूल नहीं सकती। यह वह खेती है जिसे न अकाल का भय हो सकता है, न सूखे या सैलाबे का, यह वह माल है जिसका मोल कभी कम हाता ही नहीं। सदा बढ़ता ही रहता है। इस कोष (खजाने) को जितना लुटाओ उतना ही भरता है। तभी तो वेद भगवान् का यह उपदेश है—'**स्वयं वाजिस्तन्वं कल्पयस्व**' अर्थात् हे मनुष्य! तू अपनी कमाई को अपने शरीर द्वारा अपने हाथों से और अपने हाथों की धर्मपूर्वक कमाई को बढ़ा सकता है।

'महिमा ते अन्येन न सन्नशे'

अर्थात् हे मनुष्य! संसार की सभी योनियों में जो श्रेष्ठता और उत्तमता मैंने तुझे प्रदान की है तू उसे नष्ट न कर और सदैव बढ़ाता रह।

धीरे–धीरे बढ़ने का नियम

यह धीरे–धीरे बढ़ते रहने का नियम परमात्मा का अपना बनाया हुआ है। इसलिए इसकी कभी भी अवहेलना नहीं हो सकती। परन्तु बहुत से आदमी अपनी दुर्बुद्धि और लोभादि के कारण इस नियम को भूलकर जल्दबाजी में फंस जाते हैं और धर्म मार्ग का परित्याग करके अधर्म मार्ग से जल्दी, बहुत जल्दी बढ़ने का प्रयत्न करके अपनी भलाई की जगह बुराई कर बैठते हैं और इस प्रकार आप ही अपने पैरों पर कुल्हाड़ा मार कर उसका दोष औरों के सिर मढ़ने का प्रयत्न करते हैं। इसीलिए एक मुसलमान कवि ने कहा है :–

क्या हंसी आती है मुझको हजरते इन्सान पर।
कारें बद तो खुद करें लानत धरें शैतान पर।।

इसका आशय स्पष्ट है, मुसलमान लोग तथा और भी कई मतमतान्तरों जैसे ईसाई मत, पारसी मत अनुयायी आदि के समान शुभ कर्म करने वाला तो परमात्मा और उसके फरिश्तों (देवी शक्तियों) को मानते हैं, जो उनके मतानुसार मनुष्यों के समान ही शरीरधारी हैं परन्तु गुप्तरूप से और कभी प्रकट हो कर भी शुभ कर्मों के लिए मनुष्य को प्रेरणा करते रहते हैं और शुभ कार्यों में उसकी रक्षा भी करते हैं।

इसी प्रकार उनके विचारानुसार बुरे कर्मों के लिए शैतान (असुर विशेष) मनुष्य को प्रेरणा करता रहता है और अपने असुर दल से लोगों को बुरे कामों के करने में सब प्रकार सहायता दिलाता रहता है, क्योंकि उसने एक विशेष

अवसर पर विशेष कारण से भगवान् से विद्रोह करके यह प्रतिज्ञा की है कि मैं तेरे बन्दों को बहका–बहका कर गुनाहों के जाल में फंसा कर नरक की आग में जलने योग्य बनाता रहूंगा। उनके धर्म–ग्रंथों की यह दन्तकथा बड़ी प्रसिद्ध है। अतः मैं इसके सम्बन्ध में वहां कुछ और कहना अनावश्यक समझता हूं। यह बात भी प्रसंगवश आ गई है नहीं तो किसी भी अन्य मत के किसी भी विचार का खण्डन–मण्डन मेरा विषय नहीं। मैं तो केवल उन भावों को आपके सामने प्रकट करना चाहता हूं जो वेद–शास्त्र आदि ऋषिकृत ग्रन्थों के स्वाध्याय और चिन्तन से समय–समय पर मेरे मन में उत्पन्न होते रहते हैं।

हां, मैं कह रहा था कि उपरोक्त कवि का आशय जो स्पष्ट ही है, केवल इतना है कि मुझे उन मनुष्यों को देखकर बड़ी हंसी आती है, जो बुरे काम तो आप करते हैं और उनका दोष बेचारे शैतान के गले थोप कर उस पर लानत भेजते रहते हैं।

यदि हम और सब बातों को छोड़ कर केवल अपने शरीर पर ही दृष्टि डालें तो यह देखेंगे कि हम कैसे धीरे–धीरे बढ़ते–बढ़ते अपनी वर्तमान अवस्था को पहुंचते हैं। पिता के वीर्य की एक बूंद माता के गर्भ में जा कर किस प्रकार भगवान की अनन्त माया और अपार शक्ति से नौ महीने में गुप्त रूप से हमारा यह शरीर माता की शक्ति से और उनके भोजन से भोजन प्राप्त करता हुआ बना है,

इसकी बात तो जाने दीजिए यद्यपि वैज्ञानिकों ने उस पर भी पूरा–पूरा प्रकाश डाला है, परन्तु जबसे हम माता के गर्भ से बाहर इस संसार में आए हैं, तब से भी हमारी वृद्धि और उन्नति की कहानी धीरे–धीरे बढ़ते रहने की ही एक प्रकट रामकहानी है, जो किसी से छिपी नहीं। मैं कभी नन्हें से बच्चे के रूप में माता की प्रेमभरी गोदी में खेला करता था और आज श्वेत दाढ़ी मूंछों वाला प्रायः एक वृद्ध पुरुष हूं। हम दिन–प्रतिदिन अपने शरीर बुद्धिबल आदि में बढ़ते–घटते रहते हैं। अधिक समय तक एक जैसे कदापि नहीं रह सकते।

आत्मिक बल का महत्व

परन्तु वास्तविक वृद्धि तथा विकास उसी का मानना चाहिए जो अपने आत्मिक बल में बढ़ता है क्योंकि आत्मिक बल से बड़ा बल और आत्मिक धन से बड़ां धन संसार में और कोई भी नहीं। जो मनुष्य इस बल और धन को पा लेता है, उसे और किसी चीज की आवश्यकता नहीं रहती। जिसे यह प्राप्त हो जाता है, संसार की सभी शक्तियां और सिद्धियां उस के सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं और इच्छा करते ही प्राप्त हो सकती हैं। इसका उदाहरण ढूंढ़ने के लिए आपको किसी पिछले जमाने में तलाश करने की आवश्यकता नहीं। पुरानी पीढ़ी लिखी या सुनी–सुनाई बातों पर किसी को विश्वास हो या न हो, परन्तु आंखों देखी बात तो सबको ही माननी पड़ेगी। हड्डियों के ढांचे लंगोटबंद महात्मा गांधी जी

का उदाहरण आज संसार में किससे छिपा है। क्या किसी धनी-मानी बलवान तथा सम्पत्तिशाली मनुष्या का भाव आज भारत भर में महात्मा जी के प्रभाव का समतुलय तो क्या पासंग भर भी कहा जा सकता है। क्यों? केवल उनके आत्मिक बल का ही प्रभाव है। इसके सिवा और क्या समझा या माना जा सकता है।

बहुत ही कम ऐसे पुरुष होते हैं, भगवान् दयानंद, गुरु नानक देव, महात्मा गांधी आदि सभी महापुरुष वर्तमान युग से इसके उज्जवल उदाहरण कहे जा सकते हैं, इसीलिए वे सबके सम्मान के पात्र हैं।

इसीलिएं वेद भगवान् ने उपदेश किया है :—

स्वयं यजस्व स्वयं जुषुस्व।

अपने हाथ से यज्ञ करके, अपने आप ही यश कमा, संसार में यश और कीर्ति की अभिलाषा तो सभी करते हैं परन्तु यज्ञमय जीवन की महत्ता को कोई नहीं जानता और न समझना ही चाहता है। सब पशुओं के समान भोगमय जीवन बिताते हुए अर्थात मनमाना खाते-पीते और आनन्द उड़ाते हुए यश और कीर्ति भी पाना चाहते हैं। परन्तु यश और कीर्ति तो तप और त्याग से प्राप्त होने वाली चीजें हैं। संसार में बिना तप और त्याग के किसी को कब कुछ मिला है? मिट्टी का कोई छोटा से छोटा तुच्छ बर्तन लेने के लिए भी तप और त्याग करना ही पड़ता है। जितनी बड़ी अच्छी सुन्दर और स्थाई कोई चीज होती है, उतना ही अधिक तप

और त्याग भी उसके लिए किया जाता है। घड़ी दो घड़ी दो चार मास दस दिन के यश और कीर्ति के लिए जो तप त्याग किया जाता है, उससे उतने ही थोड़े काल के लिए वाह–वाह भी हो जाती है। अक्षय यश और कीर्ति के लिए अक्षय ही तप और त्याग की भी आवश्यकता होगी। इस रहस्य को समझ कर अक्षय यश के लिए सच्ची लगन से तप और त्याग करने वालों का जीवन ही यज्ञमय बनकर उन्हें जन्म जन्मानतर में अक्षय यज्ञ की प्राप्ति कराता है। यह कमाई एक ही जन्म में नहीं हो सकती, इसके लिए जन्म जन्मान्तर में चेष्टा करनी पड़ती है। दूसरी कमाइयों के समान यह कमाई यहां की यहीं नहीं पड़ी रहती, वरन् अक्षय धन होने के कारण सूक्ष्म रूह से साथ मिल जाती है और उसी पूंजी से फिर अगले जन्म में इस कमाई को और भी बढ़ाने के शुभावसर प्राप्त होते हैं।

आप ही भक्ति करने की आवश्यकता

इसी प्रकार ईश्वर भक्ति भी आप ही करने की आवश्यकता है। यह किसी दूसरे को धन देकर नहीं कराई जा सकती। जैसे मनुष्य को अपने शरीर की पुष्टि के लिए आप ही पुष्टिकारक भोजन खाने पड़ते हैं और व्यायाम आदि करने पड़ते हैं, वैसे ही अपने आत्मा की पुष्टि करने और उसका बल बढ़ाने के लिए ईश्वर–भक्ति भी आप ही करनी पड़ती है। यह भी एक परमावश्यक यज्ञ, नहीं–नहीं महायज्ञ है और इसे ब्रह्मयज्ञ तथा देवयज्ञ कहा जाता है जो उन पांच महायज्ञों में सबसे पहला यज्ञ है। जो प्रत्येक मनुष्य के लिए

हमारे धर्मग्रन्थों में परमावश्यक बताए गए हैं और इस ब्रह्म यज्ञ की महत्ता इतनी है कि इसके बिना दूसरे महायज्ञ पूर्ण ही नहीं होते और अपनी पूरी–पूरी पवित्रता तथा उपयोगिता को कभी प्राप्त नहीं कर सकते। दूसरे यज्ञ तो आश्रम भेद से कभी–कभी छोड़ भी दिए जाते हैं, परन्तु इसमें तो वर्णाश्रम का भेद कुछ नहीं, सबके लिए इनको जन्म–भर, मरने से पहले अन्तिम श्वास तक करते रहने की आज्ञा है तभी तो कहा है :—

जात पात पूछे न कोय। हर को भेज सो हर का होय।।

मालकियत और अमानत

हमें यह भलीभांति समझ लेना चाहिए कि संसार में कौनसी चीज हमारी अपनी है और कौन–सी अमानत अथवा धरोहर। यह श्रेष्ठता भी मनुष्य शरीर को ही प्राप्त है किसी और शरीर को नहीं। पशु आदि हमारे जीव अपने शरीर के मालिक तो हैं परन्तु उनके पास धरोहर कोई नहीं, कारण उनके पास उसे सम्भाल कर रखते और सदुपयोग में लाने की शक्ति और बुद्धि नहीं।

अमानत या धरोहर

वे सभी पदार्थ जो हमारे शरीर से बाहर हैं और जिनका हमारे शरीर से केवल सम्बन्ध है, चाहे वह कितना भी गहरा क्यों न हो। वे सभी चीजें इस शरीर की हैं, आत्मा की नहीं। शरीर की ये सभी चीजें आत्मा को धरोहर रूप से अपने कल्याण के लिए मिली हैं। यदि हम अर्थात् हमारा यह शरीर

इनसे आत्मा के हित और कल्याण का काम न लेकर इन्हें शरीर और इससे सम्बन्ध रखने वाली इन्द्रियों के भोग में लगा देते हैं और अमानत में खयानत करते हैं और इन अमानती हदार्थों का दुरुपयोग करके अपने धर्म से गिर जाते हैं।

धर्मात्मा कौन है?

"धर्मात्मा और ईमानदार" वही कहलाता है जो धरोहर पदार्थ को उसके स्वामी के हवाले कर दे और स्वामी के हित के लिए ही उनका उपयोग करे, उसके अहित तथा हानि के लिए नहीं। जो ऐसा नहीं करता वह धर्म से गिर जाता है और 'बेईमान' कहलाता है। ईमानदार (अमानत रखने वाला) ही सदा सुखी रहता है। यही कारण है कि बहुत से लोग बड़े–बड़े धनपति होते हुए भी दुःखी होते हैं। धन उन्हें पूंरा–पूरा सुख नहीं दे सकता। वह तो तभी सुखी हो सकता है, जब इस धरोहर का ठीक–ठीक प्रयोग करे और अमानत में खयानत के जुर्म में मुजरिम न बने।

हमारे शरीर से सम्बन्ध रखने वाले धन, जन, यौवन अमानत या धरोहर हैं। इनसे सभी धन सम्पत्ति चाहे वह कुछ भी क्यों न हो और सभी सम्बन्धी, इष्ट मित्र, नौकर, चाकर, मित्र स्नेही आ गए। यौवन अर्थात् जवानी और इनकी सभी शक्तियां हमारे शरीर की निज सम्पत्ति हैं, जिनका इस शरीर के साथ विशेष सम्बन्ध है। अतः हमें भी इनके सम्बन्ध में विशेष ध्यान रखना चाहिए और अपने जीवन तथा जवानी की

शक्तियों को व्यर्थ वरन् आत्मा के लिए हानिकारक भोग विलास में न खोकर सदैव इसके कल्याण और हित के लिए ही खर्च करना चाहिए। नहीं तो हम किसी तरह भी ईमानदार न कहला कर बेईमान ही समझे जायेंगे वरन् आत्मघाती कहलायेंगे और इस जन्म में सदैव नाना प्रकार के दुःख तथा कष्ट भोगते हुए आगे भी मूढ़ और निकृष्ट योनियों में जायेंगे, जिनमें सिवाय दण्ड भुगतने के और किसी प्रकार भी हम अपनी आत्मा का कोई कल्याण न कर सकेंगे, जैसा कि वेद ने उपदेश भी किया है।

असूर्या जानते लोका अन्धेन तमसावृता५।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छनित ये के चात्मनो जनः।।

यजु० ४०,३

अर्थात् अपनी आत्मा का हनन करने वाले मनुष्य अत्यन्त गहरे अन्धेरे अर्थात् मूढ़ योनियों को प्राप्त होते हैं।

आत्मा की मल्कियत क्या है?

हमारे आंख, नाक, कान आदि ज्ञानं–इन्द्रियां और हाथ, पैर आदि कर्म–इन्द्रियां तथा मन चित्त बुद्धि अहंकार जो मन के ही विविध अंग हैं, हमारे आत्मा की अपनी मिल्कियत हैं जिन पर उसे स्वामित्व अर्थात् मालिकपने का अधिकार है।

इसलिए वेदों में यह उपदेश है कि हे मनुष्य तू अग्निहोत्र प्रतिदिन दोनों काल करता हुआ साथ ही यह प्रार्थना किया कर :— ॐ वाङ्म आस्येऽस्तु।

ॐ नसोर्मे प्राणोऽस्तु।। इत्यादि।

अर्थात् हे प्रभो! मेरे मुख में रहने वाली वाणी मेरी अपनी हो, मेरी नासिका में रहने वाला प्राण मेरा अपना हो आदि।

इसका अर्थ यह है कि मेरी वाणी कभी मेरे अधिकार से बाहर होकर कोई ऐसा वचन न बोल दे, जो मेरे आत्मिक कल्याण के विरुद्ध हो, या मेरी नासिका में आने जाने वाली प्राण शक्ति से कोई ऐसा काम न हो जाए जो आत्मा के लिए कल्याणकारी न हो, इसी प्रकार दूसरी इन्द्रियों और अंगों के लिए भी समझें।

यह प्रार्थना कौन कर रहा है? हमारा मुख तो केवल आत्मा के बोलने का साधन मात्र है। आत्मा कहती है–हे प्रभो! ये सब इन्द्रियां मेरी अपनी रहें, जिनसे मैं अपने कल्याण के लिए इनसे काम ले सकूं, यह मुझसे विद्रोह करके कभी विषयों के वश में न हो जायें और मेरे लिए विनाशकारी न हों।

जो चीज हमारी अपनी होती है, उसे ही हम जहां चाहें ले जा सकते हैं, धरोहर को नहीं। इसलिए यह न समझना चाहिए कि यह शरीर जैसा कि पहले कहा गया, हमारे साथ नहीं चलता। यहां के स्थूल पदार्थों से बना हुआ स्थूल शरीर तो निस्संदेह यहां रह जाता है और चिता पर भस्म हो जाता है, परन्तु सूक्ष्म या कारण शरीर और मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार सूक्ष्म रूप से हमारे पाप पुण्य कर्मों के सब संस्कार साथ लिए हुए आत्मा के साथ जाते हैं और वह ही अगले जन्म में इसके स्थूल शरीर का कारण बनते हैं। वास्तव में इस सूक्ष्म शरीर से छूट जाना ही मुक्ति है, जब तक आत्मा इसके मोह में फंसा हुआ है तब तक वह अपने विशुद्ध रूप को भूलकर जीवन आवागमन के जाल में भी फंसा रहता है, जिस रोज वह अपने शुद्ध–बुद्ध निरंजन रूप का यथार्थ ज्ञान

प्राप्त कर लेता है उसी दिन वह जीवन मुक्त होकर मोक्ष का अधिकारी बन जाता है और परमपिता परमात्मा की अमृत भरी गोद में स्थान पाकर परमानन्द पद को प्राप्त हो जाता है।

वास्तव में हम अपनी इन इन्द्रियों को अपनी नहीं समझते, तभी तो इन्हें बाहर विषयों की ओर भेजते रहते हैं और उनको जाल में फंस जाने के भय में डालते हैं। यदि मैं यह समझ लूं कि ये आंखें मेरी हैं, तो मैं इन्हें कभी बाहर न भेजूं और इन्हें कोई ऐसा काम न करने दूं तो मेरे अर्थात् मेरी आत्मा के लिए हितकर न हो। इस रहस्य को न जानने से ही हम विषयों के गुलाम बने हुए हैं और उनके जाल से छुटकारा नहीं पा सकते।

हमारी इन्द्रियों के रहस्य

वास्तव में हमारी इन्द्रियों के काम दो प्रकार के हैं। एक बाहर के, दूसरे अन्दर के। किन्तु हम बाहर कामों से जो विषयों से सम्बन्ध रखते हैं इतने प्रलोभित हो रहे हैं कि अन्दर के कामों की कुछ भी परवाह नहीं करते। इसलिए हम विषयों के जाल में फंसे हुए दिन रात नाना प्रकार के दुःख भोग रहे हैं और उस यथार्थ आत्मिक सुख से सर्वथा वंचित हैं जो अन्तर्मुख पीकर अपने अंदर मन के मैल और दोषों को देखकर तथा अपनी हृदय रूपी गुफा में बैठै हुए सर्वव्यापक परमात्मा की आज्ञा सुनकर या उनकी प्रेरणाओं को शिरोधार्य करके ही प्राप्त हो सकता है। यही कारण है कि दिन–प्रतिदिन हमारी आत्मा निर्बल होकर विषय वासनाओं का आसान शिकार बनती जा रही है। हम दिनोंदिन अधिक से अधिक गहरे अंधेरे गड्ढे में गिरते जा रहे हैं और हमारे दुःखों का

कभी अंत ही होने में नहीं आता।

क्या कभी आपने यह सोचा है कि परमात्मा ने हमारी दोनों आंखों और नाक के दोनों नथनों को इतने पास क्यों रखा है और कानों को इतनी दूर क्यों। आंखों को इन सबसे ऊंचा स्थान क्यों दिया है? आंखों को तो हम बिना किसी दूसरे अंग की सहायता लिए बंद कर सकते हैं और नाक के दोनों नथनों को एक ही हाथ से बंद किया जा सकता है, परन्तु कानों को एक हाथ से ही बन्द करना असंभव है।

मनुष्य के लिए यह परमावश्यक है कि वह अपने शरीर के बंधन में इन सब रहस्य भरी बातों को जान कर अपनी इंद्रियों को वश में रखे और शरीर के किसी भी अंग को बेकाबू न होने दे।

फिर देखिए! परमपिता परमात्मा ने हमारी आंख और जिह्वा को कितने पहरों और परदों में रखा है! इससे स्पष्ट है कि ये दोनों इन्द्रियां मनुष्य के लिए औरों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान हैं। तभी तो इनकी इतनी रक्षा की गई है। हमें भी सदैव इनका सदुपयोग करना चाहिए और दुरुपयोग से इन्हें बचाना चाहिए। कारण इनके दुरुपयोग और पाप से इतनी विनाशकारी हानि होना संभव है, जो और किसी भी अंग से सम्भव नहीं। आंख और जिह्वा के पाप किससे छिपे हैं। यह आंख ही है जो मनुष्य के मन में काम–अग्नि भड़का कर और उसे लोभ के वशीभूत करके आए दिन संसार में नाना प्रकार के उपद्रव खड़े करती रहती है। जिह्वा के पाप भी आंख से कुछ कम नहीं। यही इन्सान को रस और स्वाद का गुलाम बना देती है और उसके आत्म सम्मान को धूल में मिला देती है। यही झूठ बोलकर और कड़वी विषैली बातें

कहकर संसार में लहू की नदियां बहा देती है। कौन नहीं जानता कि द्रोपदी के मुख से असावधानी के साथ निकले हुए एक दुर्वचन ने भारत में महाभारत मचा दिया। जिसका विनाशकारी परिणाम आर्य जाति आज तक भुगत रही है और न जाने अभी कब तक भुगतती रहेगी।

अपनी जगह हमारी नाक और कान भी कुछ कम प्रबल नहीं। हमारी आंख और जिह्वा की जहां पहुंच नहीं वहां हमारी नाक और कान अपने–अपने स्थान पर जहां के तहां रहते ही पहुंच जाते हैं। कोई पदार्थ दिखाई दे चाहे न दे उसकी सुगन्ध नाक को दूर से ही आकर मन में लोभ पैदा कर देता है। इसी प्रकार चाहे छिपा हुआ ही कोई बात कर रहा हो परन्तु हमारे कान तुरन्त वहां पहुंचकर उसका रहस्य जान जाते हैं। आजकल तो साइंस की सहायता से हमारी इन इन्द्रियों की शक्ति और भी हजार गुणा बढ़ती जा रही है। दूरबीन की सहायता से हम हजारों मीलों की चीज देख सकते हैं। बेतार यंत्र द्वारा बेतार हजारों मील तक अपनी आवाज पहुंचा सकते हैं और दूसरे की बात सुन सकते हैं।

हमारा प्राण इन सबका राजा है। सब इन्द्रियों के बिना हमारा बुरा भला काम चल सकता है और हम वर्षों दुःख में सुख में जीवित रह सकते हैं। परन्तु प्राण रुका और हम मरे। यह दिन–रात चलता ही रहता है, चाहे हम सोते हों या जागते, आराम से बैठे या लेटे हों अथवा चलते फिरते या कोई और काम करते हों। प्राण बराबर अपने काम में लगा ही रहता है। प्राण और कान इन दोनों को नहीं रोका जा सकता। प्राण के रुकते ही मैं मर जाऊंगा और कान के बन्द होते ही उत्तम सीख तथा उपदेश न मिलते रहने के कारण

मेरी आत्मा ज्ञान से भूखी रह कर मर जाएगी।

क्या आपने कभी सोचा कि हमारे कान दोनों ओर क्यों हैं। एक ही ओर क्यों नहीं लगा दिए गए। इसका कारण यह है कि यह चारों ओर का शब्द सुन सकें। एक प्रकाश में रहे तो दूसरा अंधेरे में। इनमें हमारे शास्त्रों ने ऋषियों के स्थान कहे हैं। एक में गौतम ऋषि का स्थान है और दूसरे में भारद्वाज का। गौतम ऋषि वह है जिन्होंने न्याय जैसा अनुपम शास्त्र बनाया है। भारद्वाज जी वे हैं जिन्होंने संसार का ज्ञान प्राप्त किया है। इसका अभिप्राय यह है कि हमें न्याय संगत बात सुनकर उसे मानने और संसार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए। इसी प्रकार हमारी दूसरी इन्द्रियों में भी। हमारे शास्त्रों में ऋषियों के गूढ़ अध्यात्म रहस्य पर फिर कभी प्रकाश डालने का यत्न करूंगा।

परमात्मा ने हमारी आंखें, नाक के नथने, कान, हाथ और पैर दो–दो बनाए हैं। इसलिए कि यदि दुर्भाग्य से एक बेकार हो जाए तो हम दूसरे से तो काम ले सकें और उस अंग से सर्वथा बेकार ही न हो जायें। जिह्वा एक और कान आदि दो। इसलिए बनाए हैं कि देखो, सूंघो, सुनो काम करो और चलो फिरों तो बहुत परन्तु बोलो कम और व्यर्थ झूठे तथा कड़वे वचन बोल कर संसार में उपद्रव न फैलाओ।

सन्ध्या में सब प्रतिदिन "ओ३म् वाक्–वाक्" आदि कहते हैं। जहां दोनों आंखों, नथनों, कान के लिए दो बार "चक्षु" "प्राण" और "श्रोत्रम्" आया है, वहां एक जिह्वास के लिए "वाक्–वाक्" दो बार ही कहा जाता है, यह भी जिह्वा (वाणी) के मुख्य कर्म भी शास्त्रों ने दो ही कहे हैं।

सत्यम् ब्रूयात, प्रियंम् ब्रूयात

अर्थात् सत्य बोलो और प्रिय (मीठा) बोलो! कड़वा सत्य भी, जो लड़ाई और उपद्रव कराने वाला हो, मत बोलो। वैसे भी जिह्वा दो काम करती है। बोलती भी है और रसों (खाने–पीने) का स्वाद भी लेती है। यही दूसरी इन्द्रियों पर इसकी महानता है। मनुष्य के सब कर्मों का अन्त भी वाणी सत्य इसका अन्तिम कर्म है और ज्ञान का आरम्भ भी इसी वाणी पर है। आज यदि संसार में मनुष्य मात्र सच बोलने लगें, तो कितना व्यर्थ का वाद–विवाद समाप्त हो जाए। इसीलिए तो बाजार में आप भी सौदा लेते हुए दुकानदार से कहा करते हैं, "भाई एक बात कह दो। परन्तु कितने मनुष्य हैं, जो सत्य बोलते हैं? सत्य न बोलने से हर एक मनुष्य का ज्ञान अधूरा रह जाता है क्योंकि कर्म की पराकाष्ठा सत्य है। इसीलिए हमारा कभी पूरा नहीं पटता, परन्तु फिर भी भी हम सत्य बोलना आरम्भ नहीं करते अधूरे ही बने रहते हैं।

जैसे वृक्ष का आरम्भ उसकी जड़ों पर होता है वैसे–वैसे ही हमारे शरीर का आरम्भ भी पैरों से ही होता है। पैर तप से पवित्र होते हैं, तभी तो सन्ध्या में आया है–

ओ३म् तपः पुनातु पादयो।

हे तप–रूप परमात्मन्! हमारे पैरों को पवित्र कार्य में लगाकर तप द्वारा पवित्र कीजिए! पैरों से हमारे शरीर विद्युत धारा निकलकर पृथ्वी में दाखि़ल होती रहती है।

वैसे तो यह धारा हमारे अंग–अंग वरन् रोम–रोम से निकलती रहती है, परन्तु पैरों से सबसे अधिक निकलती है, कारण ये ही पृथ्वी के संसर्ग में रहते हैं और पृथ्वी को इनसे बिजली खींचने का अवसर मिल जाता है। उधर हम भी

अपनी प्रबल इच्छा–शक्ति द्वारा पृथ्वी से उसकी विद्युत धारा वैसे ही खींच सकते हैं, जैसे प्रकाश, वायु आदि से। परन्तु हममें से बहुत कम उस विचार–शक्ति से काम लेकर उसे विकास पाने का अवसर देते हैं। अतः यह लुप्त सी ही रहती है। इसलिए हमारे ऋषि–मुनि काठ की खड़ाऊं का अधिक प्रयोग रखते और अपने ब्रह्मचारियों से भी कराया करते थे, क्योंकि काठ में से बिजली गुजर नहीं सकती। इसलिए बड़ों के पैर छूने की प्रथा है, जिससे बड़ों के सद्भाव और आशीर्वाद उनकी शरीर की विद्युत् धारा द्वारा छोटों को प्रभावित कर सकें।

हमारे पैरों का महत्व

सेवा के लिए तप की परम आवश्यकता है। या यूं कहो कि तप के बिना सेवा हो ही नहीं सकती। इसीलिए इसे पैर से उपमा दी गई है। माता में यदि तप की शक्ति न हो तो वह गर्भ धारण ही नहीं कर सकती और बालक का पालन भी उसके लिए असम्भव है। माता को बालक के जन्म देने और फिर उसके लालन–पालन का भाव त्याग के बिना और किस प्रकार पैदा हो सकता है। यह सभी स्त्रियों का स्वाभाविक गुण है, जिसका विकास हर एक माता में बड़ी सुगमता से हो सकता है। शर्त केवल यह है कि वह इसके लिए हार्दिक इच्छा रखती हो। इसीलिए मैंने स्त्रियों में सेवा भाव और सेवा करने की योग्यता पुरुषों की अपेक्षा अधिक बतलाई है।

पैरों का हमारी आंखों के साथ विशेष सम्बन्ध है, जिनका स्थान हमारे शरीर में मस्तिष्क को छोड़कर सबसे ऊंचा है। इसीलिए नेत्र चिकित्सक ओस पड़ी हरियाली में नंगे पैरों घूमना नेत्र–ज्योति के लिए बड़ा लाभदायक मानते हैं। इसीलिए

हमारे यहां पैरों को बार–बार धोने और तेल लगाने की प्रथा थी, परन्तु अब तो हमें आलस्य आता है और हम जुराबों तथा जूतों में पैरों को कैद रखना ही अच्छा समझते हैं। जो लोग साफ नहीं रखते, उनकी आंखें भी शीघ्र खराब हो जाती हैं। ब्रह्मचर्य के साथ भी पैरों का विशेष सम्बन्ध है। कारण, काम की नाड़ी का आरम्भ हमारे पैरों की उंगलियों और विशेषकर अंगूठे तथा एड़ी के पीछे टखनों के बीच में है, जहां से यह टांगों में से गुजरती हुई जनन इन्द्रिय में पहुंचती है और फिर सारे शरीर में फैल जाती है। इसीलिए शरीर का आरम्भ पैरों से कहा गया है। पैर से पैर रगड़ने का भी निषेध है और दोनों हाथों से सिर खुजाने को भी मनु भगवान् ने बुरा बतलाया है।

ज्ञानयुक्त तप की महिमा

परन्तु तप की सारी महिमा ज्ञान के साथ ही है। अज्ञान युक्त तप न केवल शरीर को व्यर्थ कष्ट देने वाला ही होता है। परन्तु उससे हानि भी कुछ कम नहीं होती। आजकल भी मातायें तप करती अवश्य हैं, परन्तु उनका यह तप ज्ञान–युक्त नहीं होता। मोह से भरा हुआ होता है। तभी उससे उनकी सन्तान का इतना उपकार नहीं होता जितना कि अपकार और हानि हो जाती है और लाडली सन्तान अन्त में बिगड़कर न केवल अपने माता पिता को ही नित नए कष्ट देती रहती है, वरन् आप भी कुछ कम दुःख नहीं भोगती। इसलिए माताओं को अपनी सन्तान के पालन में विशेष सावधान रहना चाहिए और अपनी मोह भरी सेवाओं को उनके तथा अपने लिए हानिकारक और दुःखदाई नहीं बनना चाहिए, वरन् सदैव ज्ञानयुक्त सेवा करके इनका और अपना हित साधन करना चाहिए। यदि माता ज्ञानपूर्वक पालन करे, तो एक ही

पुत्र संसार में उसका स्त्री जन्म सफल कर सकता है और दूसरी सन्तान की उसे आवश्यकता ही नहीं रहती। इसीलिए एक कवि ने कहा है—

जननी जने तो भक्त जन या दाता या शूर।
नहीं तो जननी बांझ रह काहे गंवावत नूर।।

नालायक और कुल कलंक सन्तान पैदा करने से तो न करना ही अच्छा है। परन्तु आजकल सन्तान पैदा ही कौन करता है। वह तो इनकी कामवासना और पशु कर्म से अपने आप ही उनके इस कुकर्म का फल बनकर के हो जाती है, जिसे मोहवश उन्हें पालना ही पड़ता है। फिर वह अपने कुकर्मों से माता पिता को पग–पग पर नए दुःख देकर जलाती कुढ़ाती और उनके इस पाप कर्म का दण्ड देती रहती है। यही परमात्मा का न्याय है, जिसे कोई भी टाल नहीं सकता।

सात मर्यादायें

अथर्ववेद में भगवान ने उपदेश किया है—

सप्त मर्यादा कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यहुरो गात्
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तथ्यौ।।

अथर्ववेद ५, १, ६

अर्थात् तत्व–ज्ञानियों ने सात मर्यादायें अर्थात् पाप से बचने की व्यवस्थायें बनाई हैं। उनमें से एक का भी जो उल्लंघन करता है वह पापी बनता है। वे मर्यादायें ये हैं—१. चोरी न करना, २. व्यभिचार न करना, ३. ब्रह्महत्या न करना, ४. गर्भपात न करना, ५. शराब न पीना, ६. बार–बार दुराचार न करना, ७. अपने पापको असत्य बोलकर न छिपाना।

इससे स्पष्ट है कि वेद भगवान् के आदेशानुसार गर्भपात

भी एक महापाप है, जिससे सबको ऐसे ही बचना चाहिए जैसे कि चोरी, व्यभिचार, ब्रह्महत्या या किसी और उपरोक्त महापाप से बचा जाता है।

वेद भगवान् की आज्ञा

वेद भगवान् तो खुले शब्दों में प्रत्येक गृहस्थी को दस सन्तान पैदा करने की आज्ञा देते हैं —

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां शुभगां कृणु,
इशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि।

ऋ. मं. १०, ८५, ४५।।

अर्थात् हे वीर्य सींचने के समर्थयुक्त पुरुष! तू इस विवाहिता स्त्री से दस पुत्र उत्पन्न कर परन्तु सन्तान कैसी होनी चाहिए? चूहे से भी डर जाने वाली और मृत्यु का नाम सुनकर थर–थर कांपने वाली, धर्म और ईश्वर से विमुख, नपुंसक, निर्जीव, जीवित–मृत सन्तान नहीं। धीर–वीर गम्भीर वीर अभिमन्यु के समान महारथी और धर्मी हकीकतराय तथा गुरु गोविन्दसिंह जी के सुपुत्रों की न्याई धर्म पर मर मिटने वाली सन्तान होनी चाहिए। तभी हिन्दू धर्म की रक्षा हो सकती है और हिन्दू जाति आगामी सर्वनाश से बचकर अपने भविष्य को उज्ज्वल बना सकती है।

वही धर्मपरायण सन्तान उपरोक्त वेद–मन्त्र में वर्णन किए हुए सेवा–धर्म का पूर्ण रूप से पालन कर अपने समय पूज्यपाद (पैर पूजने योग्य) बन सकती है, नहीं तो जिनका मन और अन्तःकरण शुद्ध और पवित्र नहीं, उसके पैर छूना भी व्यर्थ ही है। कारण उसमें गुणों की अपेक्षा अवगुणों की मात्रा ही अधिक होती है और उसके दुर्गुण भी अपने अन्दर प्रवेश कर जाने का प्रबल भय रहता है।

सच्चा सेवक ही पूज्यपाद है

इसीलिए सच्चा और निष्काम सेवक ही सबका पूज्यपाद होता है। कारण, उसका मन और अन्तः करण निष्काम सेवा के प्रताप से शुद्ध और पवित्र हो जाता है। वह यश नहीं चाहता। अपने यश और कीर्ति को सुनाना भी उसके लिए असह्य हो उठता है क्योंकि वह डरता है कि कहीं यह यश भी उसके मन में अभिमान अहंकार पैदा न कर दे और इससे उसका अधःपतन न हो जाए।

सच्चे सेवक के लिए सेवा करना स्वाभाविक सा ही हो जाता है। ऐसा ही स्वाभाविक जैसा कि खाना पीना या और कोई साधारण कार्य करना। जिस मनुष्य के लिए सेवा करना ऐसा स्वाभाविक न हो और जो सेवा को एक बोझ समझता हो वह सेवक बन ही नहीं सकता। निःस्वार्थ सेवक को अपनी की हुई सेवा याद ही नहीं रहती। उसे तो वे लोग याद रखते हैं जिनकी वह सेवा करता है। कारण यह सेवा तो उसका स्वभाव बन जाती है। उसके लिए कोई विशेष बात नहीं रहती और वही बातें सदा याद रहा करती हैं जो असाधारण हों। साधारण घटनायें तो सब आदमी शीघ्र ही भूल जाते हैं।

परन्तु स्वार्थी सेवक लोगों को अपनी सेवाएं याद दिला–दिलाकर उनके मुंह से अपना यश सुनना चाहता है। यदि और कोई उसके यश को नहीं गाता तो वह आप ही गला फाड़–फाड़ कर अपनी सेवाओं का ढिंडोरा पीटने लगता है और जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं लोगों को कृतघ्न कह–कह कर उनकी निंदा करता है। ऐसी सेवा से तो सेवा न करना ही अच्छा होता है, क्योंकि ऐसी सेवा से न तो करने वाले को ही सच्चा सुख मिलता है और न करानेवाले को ही।

जो मनुष्य प्रकृति से तो धर्मात्मा और श्रद्धालु होते हैं, परन्तु कंजूस या आलसी होने के कारण सेवा करने के मैदान में पैर नहीं धरते और टालमटोल करते रहते हैं, उनके यह पवित्र भाव धीरे–धीरे मरते जाते हैं और स्वार्थ–भाव प्रबल होकर धीरे–धीरे उन्हें ऐसा दबा लेता है कि उन्हें अपने दोष ही नहीं जान पड़ते।

एक बार मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। एक जगह सत्संग हो रहा था और मैं भी वहां मौजूद था। गर्मी के दिन थे। हवा बन्द थी। एक सेवानिवृत्त वाला सज्जन कहीं से पंखा उठा लाया और संगत को पंखा झलने लगा। परन्तु वह था बिचारा कोई साधारण सा आदमी। उसके कपड़े भी कुछ बहुत साफ सुथरे नहीं थे। अतः उसकी ओर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। यदि कोई बड़ा आदमी इस प्रकार पंखा करता तो सब का ध्यान उसकी ओर जाता और शायद वह एक मिनट भी पंखा न करने पाता, कि कई लोग उसके हाथ से पंखा लेने के लिए दौड़ पड़ते।

वह बड़ी देर तक पंखा करता रहा परन्तु किसी ने भी उसके हाथ से पंखा लेकर उसे दो मिनट के लिए विश्राम नहीं दिलाया। मेरे मन में कई बार आया भी कि मैं ही ले लूं परन्तु संकोचवश होकर मैं भी नहीं उठा। एक बार मैंने निश्चय कर लिया कि अभी तो वह दूसरी ओर दूर है, अब के जब पंखा झलता–झलता वह पास आएगा तो मैं अवश्य उससे पंखा ले लूंगा परन्तु यह सौभाग्य मुझे प्राप्त न हो सका और वह सच्चा सेवक जो किसी से कुछ आशा अपने मन में रखे बिना ही सेवा कर रहा था, अन्त में थककर वहीं कहीं जनता में मिल गया या लोगों के इस घृणित स्वार्थमय

व्यवहार से निस्साहस होकर कहीं चला गया और मेरे मन का वह सद्भाव मन ही मन में रहा। उस दिन से मैंने यह शिक्षा ग्रहण की कि किसी भी शुभ कार्य में कभी अवहेलना या टालमटोल से काम न लेना चाहिए और निस्संकोच उसे तुरन्त ही कर डालना चाहिए, नहीं तो बीता अवसर फिर कभी हाथ न आवेगा।

धनी और निर्धन के दो मार्ग

धनी–मानी पुरुषों को निर्धन लोगों की अपेक्षा सेवा करने के अवसर बहुत प्राप्त होते हैं परन्तु उनमें से बहुत ही कम, कोई बिरले ही निष्काम सेवा धर्म का पालन करने की रुचि रखते हैं, जो किसी बड़े सौभाग्य और पुण्य प्रताप से ही प्राप्त होती है। धनी अपने तन के अतिरिक्त धन और वचन के प्रभाव से भी यदि चाहे तो संसार का बड़ा उपकार कर सकता है। परन्तु निर्धन बेचारे के पास सिवाए तन के और कुछ नहीं होता और वह इस तन की निष्काम सेवा से ही प्रायः बड़े–बड़े धनियों से बाजी मार ले जाता है। क्योंकि उसमें अहंकार और अभिमान नहीं होता, वह हर एक का छोटे से छोटा काम भी करने को तैयार हो जाता है। इसके विपरीत धनपतियों को उनकी शान का विचार ही कुछ नहीं करने देता और इसलिए वे इस मैदान में निर्धन परन्तु सच्चे निष्काम सेवकों से प्रायः पिछड़ जाते हैं।

एक तो वास्तविक सेवा भाव होता है और दूसरा सेवा का बहाना। नेक दिल, कंजूस और उदार निर्धन में भाव का परिणाम तो बराबर है परन्तु बहाव जुदा–जुदा। कंजूस का मन तंग और उदर बड़ा विस्तृत है। वास्तविक सेवा भाव रखने वाला मनुष्य बिना किसी और सोच विचार के, केवल

अपने सेवा भाव से प्रेरित होकर, किसी विघ्न बाधा की कुछ भी परवाह न करता हुआ सेवा के मैदान में कूद पड़ता है। परन्तु सेवा के बहाव में बहने वाले केवल दूसरों की सेवा करते देखकर मैदान में आ जाते हैं, और हार्दिक सेवा भाव न होने के कारण फिर शीघ्र ही थक कर बैठ जाते हैं और कठिनाइयों का सामना नहीं कर सकते। जैसा कि हम प्रत्येक सार्वजनिक आन्दोलनों में देख चुके हैं।

मन की उदारता के बिना सेवा कभी नहीं हो सकती। हृदय की संकुचितता (तंगी) सेवा में बहुत बड़ी बाधक रहती है। बहते दरिया का पानी बहुत कम सूखता है और खेतों को मीलों तक सींचता हुआ अपना अस्तित्व सफल कर देता है परन्तु तालाबों और जोहड़ों का पानी औरों के काम बहुत कम आता हुआ अन्त में सूर्य भगवान के कोप की ही भेंट हो जाता है। इसीलिए निर्धन सेवक का धन कभी नहीं घटता सदा बढ़ता ही रहता है और सेवा–विहीन स्वार्थी धनी का धन अन्त में नाश को प्राप्त होता है और बहुत कम फलता फूलता है। या तो उसे ही कोई दुर्गुण घेर लेता है, या रोग लगकर डाक्टर वैद्यों का घर भर जाता है, या संतान खाऊ–लुटाऊ निकल आती है, जो वर्षों की कमाई महीनों में क्या सप्ताहों में ठिकाने लगा देती है और जलाती कुढ़ाती जो है वह अलग।

सेवा और त्याग तथा तप

सेवा कि मैं पहले भी कह चुका हूं सेवा के लिए त्याग और तप की सबसे बड़ी आवश्यकता है। बिना इसके निस्वार्थ सेवा तो क्या स्वार्थयुक्त सेवा भी नहीं हो सकती। जब दोनों के लिए त्याग आवश्यक है, तो फिर जो मनुष्य अपने त्याग

और तप से निष्काम सेवा करके उसका अधिक से अधिक फल पाने का शुभ अवसर छोड़कर केवल तुच्छ सा फल देने वाली स्वार्थ सेवा ही करता रहता है, उससे बढ़कर मूर्ख और दुर्भाग्यवान और कौन समझा जा सकता है।

सच्चा त्याग तो हार्दिक प्रेम के बिना हो ही नहीं सकता और तप के लिए ज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। यह भी मैं पहले ही बता चुका हूं। इस बात को हमें कभी भी नहीं भूलना चाहिए, नहीं तो हमें हमारी सेवा त्याग और तप तीनों में से किसी का भी पूरा–पूरा लाभ प्राप्त नहीं हो सकेगा।

सेवा योग और भक्ति

वास्तव में सेवा योग का एक बड़ा वरन् सबसे बड़ा और आवश्यक अंग है। सेवा विहीन योगी भी मदारी के खेल से बढ़कर और कुछ नहीं रह जाता और उसकी शक्ति शीघ्र ही नष्ट–भ्रष्ट हो जाती है।

सेवा के बिना भक्ति भी अपना पूरा–पूरा फल नहीं दे सकती। परमात्मा की भक्ति के साथ ही साथ उसकी सृष्टि की प्रेमपूर्वक सेवा करते रहना, दीन–दुःखियों का दुःख–दर्द दूर करना भी परमावश्यक है। एक सांसारिक माता भी जब अपनी सन्तान के साथ सच्चा प्रेम करने और उसके किसी प्रकार उपकार करने वाले पर प्रसन्न हो जाती है, तो परमात्मा भी, जो हमारे माता और पिता दोनों ही हैं अपने उस भक्त पर क्यों न प्रसन्न होंगे। तो निष्काम भाव से उसकी दीन दुःखी प्रजा और सन्तान की सेवा और उपकार

करता रहता है।

देखो! जैसे किसी मोटर या इंजन को ठीक–ठीक और देर तक चलाते रहने के लिए उसे समय–समय पर साफ करते रहने और तेल देते रहने की भी आवश्यकता होती है, वैसे ही भक्ति का मोटर भी बिना सेवा के, स्वार्थ और अभिमान के मैल से मैला और निकम्मा हो जाता है और निष्काम सेवा–भाव ही उसे साफ करने के लिए जल और तेल दोनों का काम दे सकता है। इसी प्रकार बिना भक्ति के सेवा भी शुद्ध और पवित्र नहीं रहती और ऐसे ही अकड़ जाता है जैसे कि फूंक भरने से बेजान फुटबाल अकड़ जाता है और फिर जने–जने की ठोकरें खाता फिरता है। सेवाहीन–भक्त के समान भक्ति–हीन सेवक के मन में भी अहंकार और अभिमान पैदा होकर उसे पतित कर देता है। क्योंकि भक्ति और सेवा दोनों ही कर्म हैं और उनका हमारे इस प्राकृतिक शरीर से सम्बन्ध है। प्रकृति का स्वभाव ही मैल पैदा करना है। अतएव जब तक हम इन दोनों का ही परमशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मा से सम्बन्ध पैदा न करेंगे, इसमें पवित्रता आ ही नहीं सकती और न इनकी पवित्रता स्थिर ही रह सकती है। इसीलिए भक्ति और सेवा एक–दूसरे को पूर्ण और पवित्र करने वाले हैं। यह दोनों इकट्ठे होकर मनुष्य के मन को निर्मल कर सकती है और उसके अभिमान और अहंकार पर विजय प्राप्त कर सकती है।

ब्रह्माण्ड की आत्मा परमात्मा

जैसे हमारा यह शरीर आत्मा की शांति से ही चल–फिर और सब काम कर रहा है, वैसे ही परमात्मा इस ब्रह्माण्ड का आत्मा है। उन्हीं की सत्ता से सूर्य, चांद आदि सब चल रहे हैं और संसार के सब काम हो रहे हैं। जो आत्मा अपने आप को भक्त भाव से परमात्मा के साथ जोड़ देता है उसके सारे काम परमात्मा से ही हो जाते हैं और वह अपने आप को केवल निमित्त (कारण मात्र) समझकर ही सब काम करता रहता है। जैसे कि गीता में भी भगवान् कृष्ण ने कहा है :—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया।। १८–६१

अर्थात् हे अर्जुन! ईश्वर की प्राणि–मात्र के हृदय में बैठा हुआ उन्हें कठपुतलियों के समान नचा रहा है। यही भक्ति की पराकाष्ठा है। जिसके रहस्य को संसारी जीव उस समय तक नहीं समझ सकते, जब तक कि अभिमान और अहंकार के जाल में फंसे हैं और इस परम पद को पाए बिना जो लोग केवल मुख से यह थोथा ब्रह्मज्ञान बघारते रहते हैं, वे भी यथार्थवादी नहीं। उन्हें आलसी और स्वयं धोखे में फंसे हुए या दूसरों को जानबूझकर धोखा देने वाला ही समझना चाहिए। इसलिए हमें यही मानना होगा कि परमपिता परमात्मा के प्रेम को अपने मन में रखते हुए उसी प्रेम से प्रेरित होकर परमात्मा के दु:खी दीन–हीन जीवों के कल्याण और सुख के लिए दिन–रात काम करते रहने से ही हम परमात्मा को पा

सकते हैं। परन्तु यह सब कुछ ज्ञान क़े साथ होना चाहिए। त्याग के लिए प्रेम की परमार्थ की अवश्यकता है और तप के लिए ज्ञान की। इसीलिए भगवान् ने वेद में उपदेश किया है कि –स्वयं यजस्व।

अर्थात् अपने हाथ से काम कर, तब ही यह भी हो सकेगा कि––

जिस जा पे तेरा जिक्र हो, हो जिक्र खैर ही।
और नाम तेरा लें, तो अदब से लिया करें।।

परमात्मा करे कि हम सब सेवा धर्म के इस रहस्य को भली–भांति समझकर अपने हृदय पर अंकित कर सकें, जिससे कि हमारे जीवन सेवा और भक्ति के पुण्य प्रताप से भोगमय न रहकर यज्ञमय बन सकें और हम अपने मनुष्य जन्म को सफल कर सकें।

ॐ सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति।

१७–११–१९३९ टेकचन्द प्रभु आश्रित
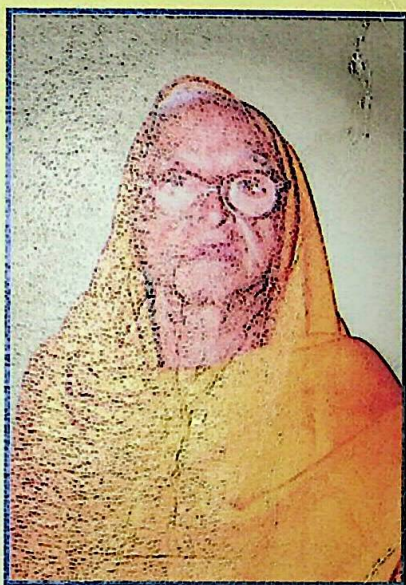
माता खुशां देवी

पूर्वनाम माता खुशां देवी धर्मपत्नी श्री हिम्मतराम जी छाबड़ा ने महात्मा सोमाश्रित जी की प्रेरणा से वैदिक भक्ति साधन आश्रम में वानप्रस्थ की दीक्षा लेकर बड़े श्रद्धाभाव से नित्य यज्ञ करती और सत्संग में शामिल होतीं, सुमधुर भजन गातीं, उनकी परोपकारी दानवृत्ति अनुकरणीय है। यज्ञ आदि शुभकर्मों और अनेक गुरुकुलों, आश्रमों एवं अनाथालयों में हजारों रुपये का दान करके अपने धन का सदुपयोग किया। प्रस्तुत पुस्तक भी माताजी के सात्विक सहयोग से प्रकाशित हो रही है।

इसी पुस्तक से

सेवा धर्म क्या है?

भूखे को रोटी, नंगे को कपड़ा, निर्धन को धन, रोगी को औषधि देना और उसकी सेवा सुश्रुषा करना, अशिक्षित को शिक्षा और अज्ञानी को ज्ञान देकर उस का उपकार करना आदि सभी कुछ सेवा धर्म में शामिल है। कर्म, भक्ति, लोकाचार सभी कुछ इसमें आ जाते हैं।

माता–पिता आदि बड़े कुटुम्बी, गुरु, अतिथि और परमेश्वर की सेवा को भक्ति कहते हैं। इससे आत्मा को गुप्तरूप से शक्ति, प्रकाश और सुख मिलता है। गुरु–भक्ति से बुद्धि, ज्ञान और सन्मार्ग प्राप्त होता है। अतिथि की सेवा से हृदय शुद्ध और मन उदार होता है।

—वीतराग महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज